त्रैमासिक
जनवरी–मार्च 2001
पन्द्रह रुपये

दायित्वबोध

उन बुद्धिजीवियों की पत्रिका जिन्होंने जनता का पक्ष चुना है

bfrgkl d fy, dN dk;LFkxu iLrko

सोवियत संघ में समाजवाद की आर्थिक समस्याएं
महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दस्तावेज
भारत में लोक भाषाओं का शिक्षा व्यवस्था से निष्कासन
राष्ट्रीयता का प्रश्न • फलस्तीन में नया इन्तिफ़ादा
राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त • आर्थिक–राजनीतिक टिप्पणियां
मजदूर वर्गीय संगीत की समस्याएं
हावर्ड फास्ट के उपन्यास 'सिलास टिम्बरमन' के अंश

एक नये क्रान्तिकारी नवजागरण-प्रबोधन की मुहिम के सहयात्री बनें!

दायित्वबोध उन बुद्धिजीवियों की एक वैचारिक पत्रिका है जिन्होंने जनता का पक्ष चुना है, जो विश्व ऐतिहासिक विपर्यय एवं पुनरुत्थान के वर्तमान दौर में भी बेहतर भविष्य से नाउम्मीद नहीं हैं, जो इस बेहतर भविष्य को दूर और उसके लिए नये सिरे से लड़ाई की तैयारी को कठिन मानते हुए भी उससे किसी न किसी रूप में अपने को जोड़े हुए हैं और जो क्रान्तियों की नयी श्रृंखला की सर्जना के लिए आज एक नये क्रान्तिकारी वैचारिक-सांस्कृतिक नवजागरण एवं प्रबोधन के महाउद्यम में, जुट जाने के लिए तत्पर हैं।

विगत 7 वर्षों के दौरान इस महाउद्यम के बेहद छोटे अंग के रूप में दायित्वबोध ने अपनी यात्रा जारी रखी है। दायित्वबोध अपने मिशन में किस हद तक सफल रहा है, यह तय करने का काम हम पाठकों पर छोड़ देते हैं। हां, अपने तईं हम लगाताार असन्तोष के शिकार रहे हैं कि पत्रिका की सामग्री में विविधता और सृजनात्मकता का उस स्तर का समावेश नहीं कर पा रहे हैं, जो हमारी परिकल्पना में है। बहरहाल, हमारे तईं, यह असन्तोष जारी रहना चाहिए, तभी पत्रिका उत्तरोत्तर अधिक परिपक्व होती जायेगी।

अपनी छोटी से टीम और अनेक प्रकार की तकनीकी दिक्कतों के कारण हम दायित्वबोध को अभी नियमित नहीं कर पा रहे हैं, इसके प्रति हमारा सर्वाधिक असन्तोष है, और जाहिर है पाठकों का भी। चूंकि पूरी टीम प्रत्यक्ष राजनीतिक-सामाजिक-सांस्कृतिक जनकार्रवाइयों में भी भरपूर शिरकत करती है, इसलिए भी अक्सर अंक नियमित करने में दिक्कतें आती हैं। अपने पाठकों-सहयोगियों-शुभचिन्तकों का सहयोग हमें निरन्तर मिलता रहा है। लेकिन, अब भी पत्रिका का एक सम्पूर्ण आत्मनिर्भर आर्थिक ताना-बाना नहीं खड़ा हो सका है। पत्रिका को नियमित न बना पाने में यह भी एक अहम कारण रहा है।

इसलिए, पत्रिका को नियमित बनाने की दिशा में लगातार प्रयास जारी रखते हुए इसके आर्थिक ताने-बाने को ज्यादा टिकाऊ स्वरूप देने के लिए हम एक **'विशेष सहभागिता अभियान'** चला रहे हैं। हम अपने सभी पाठकों-सहयोगियों-शुभचिन्तकों से इस अभियान में भरपूर सहयोग की अपील करते हैं। यह सहयोग हमारी मुहिम को जारी रखने में बेहद मूल्यवान होगा।

'विशेष सहभागिता अभियान' में आप इस तरह सहयोग कर सकते हैं :

- ⇨ **पत्रिका का एक स्थायी कोष बनाने के लिए सहयोग दें।**
- ⇨ **पत्रिका की आजीवन सदस्यता लें। आजीवन सदस्यता राशि रु. 1000 है।**
- ⇨ **पत्रिका की वार्षिक सदस्यता लें। वार्षिक सदस्यता रु. 64.00 है (डाक व्यय सहित)। अपने मित्रों-सहकर्मियों को भी सदस्यता हेतु प्रेरित करें।**
- ⇨ **पत्रिका के मद में अपने मित्रों-सहयोगियों से धनराशि एकत्र करें।**
- ⇨ **पत्रिका के वितरण में हाथ बटायें।**
- ⇨ **पत्रिका के अंकों पर अपने-अपने क्षेत्रों में चर्चाएं आयोजित करें और इसकी रपट हमें भेजें।**
- ⇨ **पत्रिका से नियमित संवाद जारी रखने के लिए हमें अपनी बेबाक प्रतिक्रिया-सलाह-सुझाव भेजें।**

आप धनराशि मनीऑर्डर अथवा दायित्वबोध के नाम से चेक या ड्राफ्ट (दिल्ली या लखनऊ में देय) से भेज सकते हैं।
पता : सत्यम वर्मा, 81, समाचार अपार्टमेण्ट, मयूर विहार फेज-1, दिल्ली-110091

क्रान्तिकारी अभिवादन के साथ,

सम्पादक मण्डल, 'दायित्वबोध'

5

इतिहास के लिए कुछ कार्य-स्थगन प्रस्ताव

चालू फैशन के हिसाब से, नई सदी के प्रारम्भ में पिछली सदी के समाहार का काम खूब जोर-शोर से हो रहा है। पिछले वर्ष शुरू हुआ यह सिलसिला इस वर्ष भी जारी है। इतिहास-बोध और इतिहास-ज्ञान की विस्मयकारी, अद्‌भुत-अपूर्व बानगियां सामने आ रही हैं।

प्रस्ताव है कि तबतक सामाजिक प्रयोगों को, जारी वर्ग-संघर्षों में यथाशक्ति हस्तक्षेप की जमीनी कार्रवाइयों को स्थगित कर दिया जाना चाहिए (यदि कोई नहीं ही माने तो घोर रूटीनवाद-विरोधी होते हुए भी उसे कुछ रूटीनी आर्थिक संघर्षों और एन.जी.ओ. ब्राण्ड सुधारवाद करने या सीधे एन.जी.ओ. में ही घुस जाने की छूट दी जा सकती है)।

कम्युनिस्ट आन्दोलन की अतीत की गलतियों और सैद्धान्तिक कमजोरियों पर विचार करना अनिवार्य है, पर अपने सचेतन अतिरेकवादी निष्कर्षों तक पहुंचने के लिए इतिहास के तथ्यों के साथ बलात्कार कहां तक उचित है? अपनी वैचारिक कमजोरियों के कारण, अतीत में संस्कृति के बारे में वामपंथियों की सोच किस रूप में संकरी रही है, यह विचार का एक जरूरी विषय है पर रौ में बहते हुए यह नतीजा निकालना या तो परले दर्जे की जोशीली मूर्खता है या बेईमानी कि कम्युनिस्टों ने सामाजिक आन्दोलन की कभी जरूरत ही नहीं समझी, लोक से उनका रिश्ता फॉर्मल बना रहा और यह कि वे प्राय: आउटसाइडर बने रहे।

''मुझे तो कोई खतरा नहीं है, पर आपको है, सर!''

हावर्ड फास्ट के प्रख्यात, पर आज दुर्लभ उपन्यास 'सिलास टिम्बरमन' का एक अध्याय। 'सिलास टिम्बरमन' अमरीका के एक विश्वविद्यालय के एक गुमनाम-से कालेज के प्रोफेसर की कहानी है, जो शिक्षा-जगत में आजाद ख्यालों के लोगों का पीछा कर रहे शिकारी कुत्तों और भेड़ियों के उन्माद और हुआं-हुआं के शोर से उत्पन्न भयावह चक्रवात में फंस गया है। यह कहानी है उस दौर की जब प्रगति और परिवर्तन के हामी हर विचार और हर व्यकित को कुचलने की राष्ट्रव्यापी साजिशें रची जा रही थीं और साथ ही यह समाज से कटे एक बुद्धिजीवी के जागने और उन शक्तियों के खिलाफ आवाज बुलन्द करने की कहानी है। - सम्पादक

43

औपनिवेशिक भारत में लोक भाषाओं एवं लिपियों का शिक्षा व्यवस्था से निष्कासन

नरेश प्रसाद भोक्ता

भारत में औपनिवेशिक शासन की स्थापना के साथ ही राजनीतिक एवं प्रशासनिक क्षेत्र में केन्द्रीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गयी। सामाजिक-सांस्कृतिक क्षेत्र में इसका पूरक भाषाओं एवं लिपियों का मानकीकरण था। प्रशासनिक सुविधा को ध्यान में रखते हुए अंग्रेज शासकों ने अनेक दूरगामी निर्णय लिए जिसने भारत के भाषा परिदृश्य को परिवर्तित कर दिया एवं कई लोकभाषाओं एवं लिपियों को विद्यालयों एवं प्रशासनिक कार्यालयों से निकाल कर उन्हें निष्प्रभावी बना दिया।

21

इस अंक में

आपकी बात 4

अपनी बात

इतिहास के लिए कुछ कार्यस्थगन-प्रस्ताव **5**

लेख

हिटलर के वंशजों का खतरनाक अभियान / *सुरेन्द्र कुमार* **18**

एक भयानक साजिश **20**

औपनिवेशिक भारत में लोक भाषाओं एवं लिपियों का शिक्षा व्यवस्था से निष्कासन / *नरेश प्रसाद भोक्ता* **21**

'सोवियत संघ में समाजवाद की आर्थिक समस्याएं' के बारे में / *माओ त्से-तुङ* **27**

महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दस्तावेज और लेख

इतिहास कुण्डलाकार गति से आगे बढ़ता है / *हुङ यू* **29**

राष्ट्रीय सवाल / *जार्ज थामसन* **34**

संगीत चिन्तन

मजदूर वर्गीय संगीत की समस्याएं / *हांस आइसलर* **40**

उपन्यास अंश

''मुझे तो कोई खतरा नहीं है, पर आपको है, सर!'' / *हावर्ड फास्ट* **43**

कविता

कार्ल हाइनरिख़ मार्क्स / *हान्स माग्नुस एंत्सेंसबर्गर* **52**

आर्थिक-राजनीतिक टिप्पणियां

फलस्तीन में नया इन्तिफादा ● एनरॉन की 'हाई-पावर' बिजली का झटका ● सुप्रीम कोर्ट के फैसले से दिल्ली के 25 लाख से भी अधिक मजदूरों पर कहर ● सिलिकन वैली की जगमग में डूबा अंधेरा **53-60**

राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त (अध्याय 22-23)

पारस्परिक सहायता और विनिमय

कम्युनिज्म की ओर प्रयाण **61**

''आम जिन्दगी की लड़ाई से दर्शन अलग और ऊपर नहीं है। वरन वह ऐसे तमाम लोगों और सामाजिक समुदायों के भाग्य तथा भविष्य से जुड़ा है, उन्हें प्रभावित करता है तथा उनसे प्रभावित होता है जो जीविकोपार्जन में लगे हुए हैं, सरकारें बनाते हैं, युद्ध लड़ते हैं और धरती में वास्तविक सुख और शान्ति पाना चाहते हैं।''

– कार्लिस लेमांत
(फ़िलासफ़ी ऑफ हयूमनिज़्म)

दायित्वबोध

वर्ष–7 अंक 3; जनवरी–मार्च 2001

प्रधान सम्पादक : **विश्वनाथ मिश्र**
सहायक सम्पादक : **अरविन्द सिंह**
संयुक्त सम्पादक : **ओमप्रकाश सिन्हा**
सत्यम वर्मा

सज्जा : **रामबाबू**

आवरण का चित्र : **1900 सदी के शुरू में वहां हुए क्रान्तिकारी उभार को दर्शाता मेक्सिकी चित्रकार ओरोज़्को का म्युराल**

सम्पादकीय कार्यालय :
81, समाचार अपार्टमेण्ट, मयूर विहार, फेज–1 दिल्ली–110091
फोन : (011) 2711136

एक प्रति : 15 रुपये
वार्षिक : 64 रुपये (डाक व्यय सहित)
आजीवन : 1000 रुपये

●

सम्पादन एवं संचालन
पूर्णत: अवैतनिक एवं अव्यावसायिक

कम्पोजिंग : **कम्प्यूटर प्रभाग**
राहुल फाउण्डेशन, 69, बाबा का पुरवा
पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ–226 006

स्वत्वाधिकारी विश्वनाथ मिश्र द्वारा एम.आई.जी. 134, राप्तीनगर फेज–एक, गोरखपुर से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा आफसेट प्रेस, नखास, गोरखपुर से मुद्रित

आपकी बात

साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष की निरंतरता के लिए 'दायित्वबोध परिवार' को नववर्ष के मौके पर मेरी शुभकामनाएं स्वीकारें।

— पलाश विश्वास, जनसत्ता, कलकत्ता–700005

जुलाई–सितम्बर 2000 अंक आज मिला। **'आपातकाल के कुछ अनुत्तरित यक्ष प्रश्न और हमारा समय'** कुछ ऐसा जैसे जाने कितने बेजुबानों के मुंह में आपने जबान डाल दी हो। यह समय खतरनाक इसलिए भी है कि हमारा समय गूंगा एंव बहरा भी है। पूंजीवादी संस्कृति गहरे में बहरा बनाया करती है जिसका विस्तार हम एकल परिवार के निहितार्थों में पाते हैं। संयुक्त परिवार संरचना का विखंडन वह जघन्य क्रिया है जो 'समूह' तक नहीं पहुंचने देती इसलिए वर्ग दोस्तों की पहचान ही गायब हो जाती है।

मजदूर आन्दोलन के क्रान्तिकरण का सवाल ही तो प्रमुख है—ये दोहरे जुड़वों के लोग हैं। पूंजी के सर्कस का हिस्सा बने हुए। भूगोल पर ये काबिज हैं जमीन की खतौनी लेकर और कारखानों में आठ–दस हजार पा भी रहे हैं। कूलर, टी.वी., फ्रिज, स्कूटर के साथ। गांव में सामन्त बने बैठे हैं और कारखानों में गालियां सुनते हैं—इस पर भी आपको कुछ लम्बा लिखना होगा किसी दिन।

'स्वयंसेवी संस्था' के कारोबार पर तो भाई आपने खूब लिखा। यहां उसके स्थापितों को दिखायी थी। पर वे लोग तो निरीह हैं उन्हें पता ही नहीं कि वे संस्थाएं क्यों चला रहे हैं।

— रामनाथ शिवेन्द्र, संपादक 'असुविधा', अक्षरघर, हर्षनगर (पूरब मुहाल), रार्बट्सगंज, सोनभद्र–231216

बहुत दिनों के बाद 'दायित्वबोध' जुलाई–सितम्बर 2000 अंक देखा। जब तक गोरखपुर था बराबर अंक मिलते रहते थे परन्तु सेवानिवृत्ति के बाद दो वर्षों तक गृह जनपद (आजमगढ़) रहा। वहां भी अंक सहज उपलब्ध नहीं थे। गत वर्ष से दिल्ली आ गया। भारतीय कंटेनर निगम में 'हिन्दी सलाहकार' के रूप में। अब संपर्कित हो गया—श्रीराम बुक सेण्टर से।

प्रस्तुत अंक देख गया। काफी अच्छी सामग्रियां हैं। लुशून की कहानी अच्छी लगी। लेखों में वर्ग संघर्ष के नियम, स्त्री मुक्ति का राजनीतिक अर्थशास्त्र के साथ ''लेख'' शीर्षक के अंतर्गत सभी सामग्रियां ज्ञानवर्धक एवं अच्छी हैं।

आज इनकी आवश्यकता है। बधाई।

— लालसा लाल तरंग, भारतीय कंटेनर निगम, हिन्दी सेल, आई.सी.डी. तुगलकाबाद, नई दिल्ली–110020

जालंधर में गदरी बाबाओं के मेले में 'दायित्वबोध' पढ़ने को मिला। आप प्रगतिशील सोच के लिए महत्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं।

— जसवन्त सिंह विरदी, 96, गोल्डन एवेन्यु, फेज–1, जालंधर–144022

आपकी पत्रिका पढ़ी, अच्छी लगी। मैं स्वयं एवं अन्य लोगों को ग्राहक बनवाने का प्रयास करूंगा। मेरी विचारधारा भी वामपंथी है। कृपया आप अपने बारे में पूर्ण जानकारी भेजें।

— नरेन्द्र डामेर, एडवोकेसी ऑफ लेबर क्लास (ALC), ए/31, शास्त्रीनगर मेहता सिटी, नागौर (राजस्थान)

भूल सुधार

प्रेस की गड़बड़ी से 'दायित्वबोध' के पिछले अंक में कुछ ऐसे पत्र दोबारा छप गये जो पहले छप चुके हैं। इस गलती के लिए हमें खेद है।–सं.

अपरिहार्य बाध्यताओं के चलते 'दायित्वबोध' का अक्टूबर–दिसम्बर 2000 अंक हमें स्थगित करना पड़ा। और यह अंक भी कुछ देर से आपको मिल रहा है। इससे पाठकों को हुई परेशानी के लिए हमें खेद है। हमारी कोशिश होगी कि आगे ऐसा न हो।—सम्पादक

अपनी बात

इतिहास के लिए कुछ कार्यस्थगन-प्रस्ताव

चालू फैशन के हिसाब से, नई सदी के प्रारम्भ में पिछली सदी के समाहार का काम खूब जोर-शोर से हो रहा है। पिछले वर्ष शुरू हुआ यह सिलसिला इस वर्ष भी जारी है। इतिहास-बोध और इतिहास-ज्ञान की विस्मयकारी, अद्‌भुत-अपूर्व बानगियां सामने आ रही हैं। विगत के इतिहास-बोधों की मृत्यु भी हो रही है, ताकि समाजवाद को पराजित करने वाली विश्व-पूंजी की ''अनुमानित शक्तिमत्ता'' का और नई प्रत्यक्ष परिघटनाओं से अन्तर्भूत संरचना तक की प्रक्रिया से गुजरकर (शायद इसलिए कि भारतीय मार्क्सवादी अबतक यह काम करते ही नहीं रहे हैं!!!) नये यथार्थ का, सन्धान किया जा सके और नया इतिहास-बोध गढ़ा जा सके।

प्रस्ताव है कि तबतक सामाजिक प्रयोगों को, जारी वर्ग-संघर्षों में यथाशक्ति हस्तक्षेप की जमीनी कार्रवाइयों को स्थगित कर दिया जाना चाहिए (यदि कोई नहीं ही माने तो घोर रूटीनवाद-विरोधी होते हुए भी उसे कुछ रूटीनी आर्थिक संघर्षों और एन.जी.ओ. ब्राण्ड सुधारवाद करने या सीधे एन.जी.ओ. में ही घुस जाने की छूट दी जा सकती है)।

संक्रमण और विपर्यय के दौरों में प्रायः कला-साहित्य-संस्कृति की भूमिका अहम हो जाती है और संस्कृति का क्षेत्र विचारधारात्मक वर्ग-संघर्ष का एक मुख्य क्षेत्र बन जाता है जहां नयी सामाजिक क्रान्तियों या उनके नये संस्करण की पूर्वपीठिका तैयार करने के लिए नये क्रान्तिकारी पुनर्जागरण और प्रबोधन के उद्यम-उपक्रम संगठित होने लगते हैं। पर हमारे समय की विडम्बना यह है कि क्रान्तिकारी वाम के एक हिस्से के लिए वैचारिक-सैद्धान्तिक कार्य महज एक आड़ या बहाना बन रहे हैं। अबतक की विफलताओं और नये भूमाण्डलिक परिवर्तनों पर सोचने-सेमिनार करने, पत्रिका निकालने के बहाने व्यापक बुनियादी जनता के विभिन्न वर्गों-तबकों के आन्दोलनों में भाग लेने, पहलकदमी अपने हाथ में लेने की कोशिश करने, अपनी पहल पर उन्हें गोलबन्द और संगठित करने की जोखिम भरी मशक्कतों से बचने वाले लोगों के लिए संस्कृति का दायरा आज यदि एक सुरक्षित आश्रयस्थली बन रहा है तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। पिछले दिनों ज्ञानपीठ पुरस्कार लेते समय शुतुर्मुगी व्यक्तिवादी मानववाद के आवरण में प्रतिक्रिया के सर्वाधिक सजग प्रवक्ता लेखक निर्मल वर्मा जी ने फरमाया था कि साहित्य निर्वासित मनुष्य का अन्तिम शरण्य है। उन्हीं के शब्दों में थोड़ा हेर-फेर करते हुए कहा जा सकता है कि आज कला-साहित्य अपनी सुविधा, सुरक्षा और आरामतलबी के लिए, राजनीति से स्व-निर्वासित लोगों का अन्तिम शरण्य बन रहा है। यूं भी साहित्य की दुनिया में आज आम जन के जीवन, स्वप्नों और संघर्षों से सुरक्षित दूरी लेकर लिखने-बात करने वाली भद्र-कुलीन ''प्रगतिशीलता'' खूब चलन में है। सो, इन आप्रवासी पंछियों को झुण्ड में शामिल होने और सहज स्वीकार कर लिये जाने में कोई विशेष दिक्कत नहीं होगी।

यानी यह क्रान्ति के लिए उपयोगी काम का नहीं बल्कि सुविधा, सुरक्षा और आराम का मामला है कि इन ''क्रान्तिकारी'' मार्क्सवादियों को अचानक सांस्कृतिक नवजागरण और ज्ञानोदय के कार्यभारों का, अभी-अभी, सन 2000 में गहरा बोध हो गया है। कुछ लोकरंजकतावादी, जो कलतक सिर्फ ''आम जनता के लिए'' सरल लेखन के उत्कट पक्षधर थे और गम्भीर सैद्धान्तिक कार्यों के नाम तक से जिन्हें चिढ़ होती थी या नींद आने लगती थी, वे भी इस नई मुहिम के अग्रणी सेनानी

यदि बन रहे हैं तो सचमुच यह सुविधा, सुरक्षा और आराम का मामला है।

नये नवजागरण के इन पुरोधाओं को यह याद दिलाने की जरूरत नहीं है (क्योंकि वे जानबूझकर यह भूले हुए हैं) कि नये युग सत्य का सन्धान सिर्फ पुस्तकालयों-अध्ययन कक्षों-सेमिनार कक्षों में ही नहीं होता, केवल पुस्तकों, अन्तरराष्ट्रीय-राष्ट्रीय एजेंसियों की रिपोर्टों और अखबारी आंकड़ों से ही नहीं होता, बल्कि उस प्रत्यक्ष अध्ययन और जांच-पड़ताल का इसमें बुनियादी स्थान होता है जो जनता के बीच जाकर उसे गोलबन्द और संगठित करने तथा उसके रोजमर्रे के संघर्षों में शिरकत के दौरान लगातार जारी रहता है। ऐसा कतई नहीं होता कि कुछ मेधावी महामानव अपनी प्रतिभा के सहारे, किताबों और दूसरों के प्रत्यक्ष अनुभवों के जरिए परिघटनाओं को भेदकर अन्तर्भूत सामाजिक संरचना का ''युगसत्य'' पकड़ लेते हैं और फिर उस आधार पर निर्मित 'लाइन' को लेकर आम कार्यकर्ता सामाजिक प्रयोगों में उतरकर जनता को संगठित कर लेते हैं। यह एक चतुर अवसरवादी तर्क है।

आज के सांस्कृतिक नवजागरण के पुरोधा और ज्ञानोदय के वाहक का जोड़ा-जामा पहनने वाले नववामपंथियों को यह याद दिलाना जरूरी है कि जो महामानव **बुर्जुआ नवजागरण** के सूत्रधार बने थे वे तक स्वयं बुर्जुआ परिसीमाओं से मुक्त, व्यवहार और सिद्धान्त की एकता के साकार रूप थे, जिनका चिन्तन व्यावहारिक संघर्षों और क्रियाकलापों के बीच निर्मित-संघटित हुआ था। **एंगेल्स** ने उनके बारे में लिखा है,

> *''मानव जाति ने इतनी बड़ी प्रगतिशील क्रान्ति अभी तक नहीं देखी थी, यह वह युग था, जो महामानवों की मांग करता था और जिसने महामानवों को जन्म भी दिया। वे चिन्तन-शक्ति में, आवेग और चरित्र में, सार्वत्रिकता और विद्या में महामानव थे। बुर्जुआ वर्ग के आधुनिक शासन के संस्थापक स्वयं बुर्जुआ परिसीमाओं से सर्वथा मुक्त थे। इसके विपरीत युग की साहसिकता उन्हें कमोबेश प्रेरित किया करती थी।... उस युग के नायक अभी तक श्रम-विभाजन की दासता से नहीं बंधे थे, जिसके एकांगीपन पैदा करने वाले, संकुचनकारी प्रभाव हम उनके उत्तरवर्तियों में प्रायः पाते हैं। किन्तु उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि प्रायः वे सब समकालीन आन्दोलनों के बीच, व्यावहारिक संघर्ष के बीच ही जीवन-यापन तथा क्रियाकलाप करते थे। वे किसी न किसी पक्ष को लेकर लड़ाई में शामिल होते, कुछ बोल और लिखकर लड़ते थे तो कुछ तलवार लेकर, और कुछ दोनों तरीकों से। इसी से उनमें चरित्र की वह पूर्णता तथा ओज था, जिन्होंने उन्हें पूर्ण मानव बनाया।* ***किताबी कीड़े तब बहुत कम पाये जाते थे। वे दूसरी या तीसरी कोटि के लोग होते थे या फूंक-फूंककर पांव रखने वाले कूपमण्डूक, जो अपने ऊपर आंच आने के डर से संघर्ष से अलग रहते थे।''*** (जोर हमारा)
>
> *(फ्रेडरिक एंगेल्स : 'प्रकृति की द्वंद्वात्मकता')*

यह सोचना या तो मूर्खता है या फिर अवसरवादी चालाकी कि अपने घोंसलों की हर सुख-सुविधा के लिए कुशलतापूर्वक योजना बनाने और अमल करने वाले तथा उनकी हिफाजत के लिए दिनों-रात चिन्तित रहने वाले, संघर्षों की आंच से और यहां तक कि आम जनता की जिन्दगी तक से दूर रहने वाले तथा फूंक-फूंककर पांव रखने वाले कूपमण्डूक और अध्यवसायी किताबी कीड़े हमारे युग के सर्वहारा नवजागरण और प्रबोधन के कार्यभारों का निर्वहन कर सकेंगे।

यह सोचना या तो मूर्खता है या फिर अवसरवादी चालाकी कि अपने घोंसलों की हर सुख-सुविधा के लिए कुशलतापूर्वक योजना बनाने और अमल करने वाले तथा उनकी हिफाजत के लिए दिनों-रात चिन्तित रहने वाले, संघर्षों की आंच से और यहां तक कि आम जनता की जिन्दगी तक से दूर रहने वाले तथा फूंक-फूंककर पांव रखने वाले कूपमण्डूक और अध्यवसायी किताबी कीड़े हमारे युग के सर्वहारा नवजागरण और प्रबोधन के कार्यभारों का निर्वहन कर सकेंगे। संस्कृति और सिद्धान्त को सामाजिक वर्ग-संघर्ष में सुरक्षित भागीदारी का मोर्चा समझने वाले लोग आज के सांस्कृतिक नवजागरण और प्रबोधन के विकट संघर्षपूर्ण कार्यभारों को किसतरह अंजाम देना चाहेंगे, इसके बारे में ज्यादा कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है।

समकालीन पण्डिताऊ मार्क्सवादी विमर्श के परिदृश्य पर यदि सरसरी तौर पर निगाह डाली जाये तो ऐसा लगता है कि अकादमिक मार्क्सवादी समाजवाद की धारा के पुनस्संगठन और सर्वहारा क्रान्ति के लक्ष्यों की पुनर्प्राप्ति के प्रति उतने ही अनास्थाशील हैं, जितने कि आज बुर्जुआ सिद्धान्तकार-विचारक-अर्थशास्त्री पूंजीवाद के अन्तर्भूत असाध्य संकटों और विश्वव्यापी

जन-उभारों-जनविस्फोटों से घबराये हुए हैं। क्रान्तिकारी हलकों के भीतर भी, अकादमिक-अकर्मक बुद्धिवाद और ठण्डे 'रैडिकलिज्म' का जो संक्रामक प्रकोप हुआ है, उसके चलते बहुतेरे ऐसे लोग और ग्रुप हैं जो भूमण्डलीकरण के दौर में विश्व-पूंजीवाद की आन्तरिक पुनर्गठन की क्षमता से चकित हैं, जो मानने लगे हैं कि लेनिन द्वारा साम्राज्यवाद को मरणासन्न पूंजीवाद कहना और इसे सर्वहारा क्रान्ति की पूर्वबेला बताना गलत सिद्ध हुआ है, जिन्हें पूंजीवाद को क्रान्तिकारी ढंग से उखाड़ फेंकने की आशा आने वाले लम्बे समय तक (वस्तुत: हमेशा के लिए) नहीं दीख रही है और वे, घोषित या अघोषित तौर पर, अभी इंतजार करने के पक्ष में हैं कि पूंजीवादी दायरे के भीतर उत्पादक शक्तियों के विकास की ''पैदा हुई सम्भावनाएं'' निश्शेष हो जायें, तब शायद तीखे होते अन्तरविरोधों का प्रतिफलन सामाजिक विस्फोटों के रूप में सामने आये। प्राय: इस प्रजाति के क्रान्तिकारियों को सर्वहारा क्रान्ति की पिछली शताब्दी के प्रयोगों में अदूरदर्शिता, खामियां और वैचारिक कमजोरियां ही अधिक दीख रही हैं और प्राय: वे समाजवादी प्रयोगों की विफलताओं के लिए मनोगत उपादानों (सब्जेक्टिव फैक्टर्स) को ही अधिक जिम्मेदार मानते हैं क्योंकि उनके कारणों की पड़ताल (निश्चित तौर पर एकांगी, अनैतिहासिक, आधिभौतिक और अनैतिहासिक पड़ताल) करते हुए वे वस्तुगत स्थितियों-सीमाओं-बाध्यताओं की चर्चा तक नहीं करते या उड़ता-पड़ता, चलताऊ हवाला भर देते चलते हैं। हमारे देश में भी क्रान्तिकारियों की यह प्रजाति अनुकूल मौसम में फल-फूल रही है। यह प्रजाति पूंजी के भूमण्डलीकरण और समाजवाद की समस्याओं पर शोध की ''नई ऊंचाइयों'' को छूती हुई, देशी सन्दर्भों में मुख्यत: एक ही काम कर रही है—भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन की परम्परा और विरासत के सकारात्मक और उपयोगी पक्षों को उद्धत सर्वनिषेधवादी ढंग से खारिज करना। यदा-कदा, बाध्य किये जाने पर, वे सिर्फ कम्युनिस्टों की बहादुरी और कुर्बानी की चर्चा करते हैं, पर अगली ही सांस में वे न केवल उन्हें वैचारिक दिवालिया बल्कि लोक और उसके मानस से हमेशा से कटा रहने वाला भी घोषित कर देते हैं।

पुराने जमाने में, युद्ध की समाप्ति के बाद, रात के सन्नाटे में युद्ध क्षेत्र में जब मृतकों के शव, घोड़े-हाथी, हरबे-हथियार, वस्त्र-आभूषण, घायल सैनिक आदि चारों ओर बिखरे पड़े होते थे, उस समय वहां सहसा ''नये योद्धाओं'' का हुजूम सक्रिय हो उठता था—वे लूटपाट मचाते, आपस में लड़ते चोर-उठाईगीर होते थे और लाशों पर झपटते कुत्ते, सियार, लोमड़ी और भेड़िये।

हमारे देश में भी क्रान्तिकारियों की यह प्रजाति अनुकूल मौसम में फल-फूल रही है। यह प्रजाति पूंजी के भूमण्डलीकरण और समाजवाद की समस्याओं पर शोध की ''नई ऊंचाइयों'' को छूती हुई, देशी सन्दर्भों में मुख्यत: एक ही काम कर रही है—भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन की परम्परा और विरासत के सकारात्मक और उपयोगी पक्षों को उद्धत सर्वनिषेधवादी ढंग से खारिज करना।

समाजवाद की वर्तमान, फौरी पराजय पर विमर्शरत, नये-नये सिद्धान्त-प्रतिपादकों और नौबढ़ बुद्धिजीवियों को देखकर उत्तर-युद्धकालीन ''युद्ध'' या युद्ध के ''अंत'' के बाद के युद्ध के उन्हीं रात्रिचर ''योद्धाओं'' की याद आती है।

क्रान्तिकारी चोला वाले इन नववाममार्गियों की कुछ खास अभिलाक्षणिकताएं हैं जो राजनीति और संस्कृति पर विमर्श की इनकी शैली और इनकी स्थापनाओं मे आम तौर पर पाई जाती हैं। उदाहरण के तौर पर, इनमें से कुछ की यहां संक्षेप में चर्चा की जा सकती है। फिलहाल, यहां इतना ही सम्भव है। आगे **'दायित्वबोध'** में हम सिलसिलेवार ऐसे बुद्धिजीवियों और ग्रुपों के चुनिन्दा लेखों और पुस्तकों की समालोचना के जरिये इनकी राजनीति, इनकी संस्कृति और इनके सिद्धान्तों का चेहरा पाठकों के सामने साफ करने की कोशिश करेंगे।

●

एक खास बात जो इन नववाममार्गियों में पाई जाती है वह पश्चदृष्टि, समाहार या पुनर्मूल्यांकन के नाम पर कम्युनिस्ट आन्दोलन के अतीत के प्रति एक खिल्ली उड़ाने वाला, उद्धत निषेधवादी प्रवृत्ति है, जिसका इतिहास के तथ्यों से कोई लेना-देना नहीं होता।

इसका एक प्रतिनिधि उदाहरण हम यहां दे रहे हैं। **'वर्तमान सांस्कृतिक परिदृश्य एवं चुनौतियां'** विषय पर **'विकल्प'** पत्रिका द्वारा आयोजित परिचर्चा में (विकल्प - 4 में प्रकाशित) हिस्सा लेते हुए **'लोकदस्ता'** पत्रिका के सम्पादक **सुभाष गाताडे** फर्माते हैं :

''संस्कृति के बारे में अपनी संकरी सोच के कारण इस देश में वामपंथी कभी भी किसी व्यापक सांस्कृतिक आन्दोलन के प्रणेता नहीं बन पाये। यह काम समाज-सुधारकों ने तो किया,

जाति और धर्म के विद्रोहियों ने तो किया, लेकिन वामपंथी क्रान्तिकारियों ने नहीं किया। उन्होंने सांस्कृतिक आन्दोलन को राजनीतिक आन्दोलन के एक पुर्जे के रूप में देखा। लेखक संघ बनाये, नाटक मण्डली बनाई, चुनावों में प्रहसन खेले, फैक्टरी गेट पर नुक्कड़ नाटक खेले। और सांस्कृतिक पतन को पूंजीवादी राज्य और साम्राज्यवाद का षड्यंत्र बताया। अगर नहीं गया उनका ध्यान तो समाज की तरफ नहीं गया। लोगों की तरफ नहीं गया। 'लोक' को अपनी लोकरंजकता से महिमामण्डित किया, लोक संस्कृति को स्वत:शुद्ध, मानवीय, प्रगतिशील, क्रान्तिकारी, भविष्योन्मुख बतलाया। लिहाजा वामपंथियों को कभी भी सामाजिक आन्दोलनों की जरूरत नहीं महसूस हुई। जरूरत पड़ने पर भी वे लोगों को धिक्कारने का साहस कभी नहीं जुटा पाये। यह काम कबीर ने किया, अपने ढंग से राजा राममोहन राय और दयानन्द सरस्वती ने किया, महात्मा फुले और पेरियार ने किया, गांधी और अम्बेडकर ने भी किया। मगर वामपंथियों का लोक से एक फॉर्मल रिश्ता ही बना रहा। इसलिए वे प्राय: आउटसाइडर ही बने रहे।''

(विकल्प-4, पृ. 178-179)

कम्युनिस्ट आन्दोलन की अतीत की गलतियों और सैद्धान्तिक कमजोरियों पर विचार करना अनिवार्य है, पर अपने सचेतन अतिरेकवादी निष्कर्षों तक पहुंचने के लिए इतिहास के तथ्यों के साथ बलात्कार कहां तक उचित है? अपनी वैचारिक कमजोरियों के कारण, अतीत में संस्कृति के बारे में वामपंथियों की सोच किस रूप में संकरी रही है, यह विचार का एक जरूरी विषय है पर रौ में बहते हुए यह नतीजा निकालना या तो परले दर्जे की जोशीली मूर्खता है या बेईमानी कि कम्युनिस्टों ने सामाजिक आन्दोलन की कभी जरूरत ही नहीं समझी, लोक से उनका रिश्ता फॉर्मल बना रहा और यह कि वे प्राय: आउटसाइडर बने रहे।

अपनी अलौकिक इतिहास-दृष्टि का परिचय देते हुए सुभाष गाताडे ने हू ब हू यही सूत्रीकरण 'साझा सांस्कृतिक अभियान' की इलाहाबाद संगोष्ठी में भी प्रस्तुत किया था और उनके एक जोशीले साथी ने तो लाल-पीले होते हुए यहां तक कह दिया था कि कम्युनिस्टों को दलितों के बारे में बोलने का कोई हक नहीं है, क्योंकि उन्होंने दलितों के लिए कभी न तो कुछ सोचा, न ही किया।

कम्युनिस्ट आन्दोलन की अतीत की गलतियों और सैद्धान्तिक कमजोरियों पर विचार करना अनिवार्य है, पर अपने सचेतन अतिरेकवादी निष्कर्षों तक पहुंचने के लिए इतिहास के तथ्यों के साथ बलात्कार कहां तक उचित है? अपनी वैचारिक कमजोरियों के कारण, अतीत में संस्कृति के बारे में वामपंथियों की सोच किस रूप में संकरी रही है, यह विचार का एक जरूरी विषय है पर रौ में बहते हुए यह नतीजा निकालना या तो परले दर्जे की जोशीली मूर्खता है या बेईमानी कि कम्युनिस्टों ने सामाजिक आन्दोलन की कभी जरूरत ही नहीं समझी, लोक से उनका रिश्ता फॉर्मल बना रहा और यह कि वे प्राय: आउटसाइडर बने रहे। सच यह है कि तेलंगाना संघर्ष के समय तक जहां भी कम्युनिस्ट किसानों-मजदूरों के बीच काम करते रहे वहां सामाजिक मसलों पर उन्होंने लगातार ध्यान दिया और जाति-प्रथा, स्त्री-उत्पीड़न, दलित-उत्पीड़न, अंधविश्वास आदि को मुद्दा बनाकर व्यापक प्रचार और आन्दोलन किये। हमेशा से उनका सबसे व्यापक आधार गांवों में दलितों के बीच रहा और आज भी उन इलाकों में दलित यदि अपेक्षाकृत अधिक आत्मसम्मान के साथ सिर उठाकर चलते हैं, तो इसका कारण है कि वहां वामपंथियों ने आर्थिक प्रश्नों के साथ ही उनके सामाजिक सम्मान को भी मुद्दा बनाकर लड़ाइयां लड़ी थीं और कुर्बानियां दी थीं। ऐसे तथ्यों के संकलन से पूरे ग्रंथ के ग्रंथ तैयार हो सकते हैं। पर गाताडे जैसे वामपंथी नौदौलतिये कलम और जुबान की नोक के एक झटके से कम्युनिस्टों को लोक से 'फार्मल' रिश्ता रखने वाला, आउटसाइडर और राजा राम मोहन राय से भी पीछे घोषित कर देते हैं जिनके सुधार केवल बंगाली शहरी भद्रलोक तक ही सीमित थे और इस आग्रह से प्रेरित थे कि वे अपनी कुप्रथाओं से मुक्त होकर सभ्य अंग्रेजों की सभ्य प्रजा बनने का हक हासिल कर लें।

राष्ट्रीय आन्दोलन काल में कम्युनिस्ट आन्दोलन के राजनीतिक विचारों की कमजोरी और उस नाते परिस्थितियों एवं क्रान्ति की लाइन की अधूरी और अंशत: गलत समझदारी के चलते, साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष का नेतृत्व भले ही बुर्जुआ वर्ग की पार्टी कांग्रेस के हाथों में रहा हो, पर यह इतिहास का निर्विवाद तथ्य है कि शहरी मजदूरों, और गांव के भूमिहीनों और मध्यम स्तर तक के बहुसंख्यक काश्तकार किसानों में हर स्तर के जमीनी काम और आधार की दृष्टि से कम्युनिस्ट कतई पीछे नहीं थे। तमाम गलतियों के बावजूद, लोक से कम्युनिस्टों का रिश्ता फॉर्मल होना तब शुरू हुआ जब पार्टी तेलंगाना के बाद संसदमार्गी बन गई। गाताडे के इस घोर इतिहास-निषेधी सूत्रीकरण पर विस्तृत विचार जरूरी है, जो हम आगे के अंकों में करेंगे भी। यहां हम केवल उन जैसों के 'ट्रेण्ड' को चिह्नित करने के लिए यह उल्लेख कर रहे हैं।

दरअसल, आम तौर पर इस ब्राण्ड के नववाममार्गियों का नजरिया यह होता है कि भारत में कम्युनिस्ट आन्दोलन में अब तक सिर्फ कूपमण्डूकता, राजनीतिक अशिक्षा, कठमुल्लावाद और यांत्रिकता ही रही है और मार्क्सीय ज्ञान का आलोक तो तभी फूटा है जब भारत-भूमि पर उनका अवतरण हुआ है। एक सियार था, जिसका सावन में जन्म हुआ और भादों में बाढ़ आ गई तो सियार बोला, ''बाप रे, ऐसी बाढ़ तो मेरी जिन्दगी में पहले कभी आई ही नहीं।''

अपने नयेपन की धुन का गुन मगन होकर गाते हुए ये नववाममार्गी, अतीत में जो कुछ भी हुआ है, उसका निषेध इस आग्रह के साथ करते हैं कि उन्हें सबकुछ नये सिरे से करना है। साथ ही, यह कि समकालीन बदलावों की अनदेखी करके सभी क्रान्तिकारी ''पुरानी स्थितियों की पुरानी आलोचना'' की तोतारटन्त कर रहे हैं। उदाहरण अनगिनत हैं, एक ताजा उदाहरण लें। इस युग की सच्चाइयों का संधान करके उनकी ''पोटली बांध अगले युगसत्य का संधान'' करने निकल पड़ने के लिए **'इतिहास-बोध' सम्पादक लाल बहादुर वर्मा** और **'लोकदस्ता' सम्पादक सुभाष गाताडे 'संधान'** नाम की जो पत्रिका निकालने जा रहे हैं, उसके परिचयात्मक परिपत्र में कार्यभारों का निरूपण करते हुए लिखा गया है :

> *''समकालीन पूंजीवाद की व्यवस्था रूप में आलोचना क्रान्तिकर्म के उद्यम का प्रथम सोपान है। जिस पूंजीवाद की विचारधारात्मक आलोचना की जा रही है वह सौ या पचास साल पहले का पूंजीवाद है। समाजवाद के इतिहास की समीक्षा का और उससे सबक निकालने का कार्यभार हमारे सामने है।''*

साम्राज्यवाद के मौजूदा कार्य विधान और भूमण्डलीय पूंजी की संरचना में जो बदलाव आये हैं, उनका अध्ययन जरूरी है। पर इन परिवर्तनों के साथ, यह भी बताना जरूरी है कि समाजवाद की फिलहाली पराजय के बाद, अनेकशः दबावों, आवश्यकताओं के नाते और स्वाभाविक परिणति के तौर पर राजकीय इजारेदारियों और ''कल्याणकारी राज्यों'' के विघटन के बाद श्रम और पूंजी के अन्तरविरोधों में काफी कुछ ऐसा भी है जो एक बार फिर उन्नीसवीं शताब्दी के क्लासिकी यूरोपीय पूंजीवाद के दौर से मिलता-जुलता है।

ये युगद्रष्टा विचारक लोग ऐसी बातें अन्यत्र भी थोक भाव से उचारते रहे हैं। वामपंथी जिस पूंजीवाद की विचारधारात्मक आलोचना कर रहे हैं, वह सौ या पचास साल पहले का पूंजीवाद है— यह बताने वाले महानुभाव न जाने क्यों यह बताना (यहां या अन्यत्र कहीं भी) गवारा नहीं करते कि आज का पूंजीवाद अपने विचारधारात्मक हमलों में जिन सिद्धान्तों-तर्कों का इस्तेमाल कर रहा है, वे पचास, सौ या डेढ़ सौ वर्ष पुराने हैं। उत्तर संरचनावाद, उत्तर आधुनिकतावाद आदि की सैद्धान्तिक अन्तर्वस्तु की, पचास के दशक में प्रस्तुत **रोस्तोव, डैनियल बेल, रेमो आरों** और **काहन** के उत्तर औद्योगिक सिद्धान्तों से ही नहीं बल्कि 19वीं शताब्दी में **नीत्शे** द्वारा प्रस्तुत तर्क, विज्ञान और जनवाद-विरोधी विचारों से समानता है। **फुकोयामा** के कण्ठ से **स्पेंग्लर** की प्रतिध्वनि फूट रही है। आज का ''नवक्लासिकी'' ''नवउदारवादी'' पूंजीवाद विचारधारा के स्तर पर मार्क्सवाद के विरुद्ध जिन दार्शनिक अवस्थितियों पर खड़ा होकर चोट कर रहा है, उन्हें मार्क्सवाद एक शताब्दी से भी अधिक पहले शिकस्त दे चुका है। यह याद दिलाना भी सर्वहारा नवजागरण का कार्यभार है। आप पूंजीवाद की विचारधारात्मक आलोचना के लिए कोई सर्वथा नई चीज या तर्क ''ईजाद'' करने नहीं जा रहे हैं। हां, यह जरूर है कि साम्राज्यवाद के मौजूदा कार्य विधान और भूमण्डलीय पूंजी की संरचना में जो बदलाव आये हैं, उनका अध्ययन जरूरी है। पर इन परिवर्तनों के साथ, यह भी बताना जरूरी है कि समाजवाद की फिलहाली पराजय के बाद, अनेकशः दबावों, आवश्यकताओं के नाते और स्वाभाविक परिणति के तौर पर राजकीय इजारेदारियों और ''कल्याणकारी राज्यों'' के विघटन के बाद श्रम और पूंजी के अन्तरविरोधों में काफी कुछ ऐसा भ्झी है जो एक बार फिर उन्नीसवीं शताब्दी के क्लासिकी यूरोपीय पूंजीवाद के दौर से मिलता-जुलता है।

और यह कहना भी एक बड़बोलापन होगा कि समकालीन पूंजीवाद की आलोचना सभी मार्क्सवादी वही कर रहे हैं, जो सौ-पचास साल पहले के पूंजीवाद की होती थी। जहां कठमुल्लावादी सोच के प्रभाव को नकारा नहीं जा सकता, वहीं इस बात को भी नहीं नकारा जाना चाहिए कि कतिपय अकादमिक मार्क्सवादियों से लेकर विभिन्न कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी ग्रुप भी नये परिवर्तनों के अध्ययन और आलोचना के काम में संजीदगी के साथ लगे हुए हैं। गाताडे एण्ड कम्पनी की शिकायत यह जरूर हो सकती है कि उनकी पद्धति आपके अकादमिक विमर्श की पद्धति से अलग है और निष्कर्ष भी।

पूंजीवाद की आलोचना की ही तरह, समाजवाद के इतिहास की समीक्षा और सबक निकालने

का कार्यभार 'सन्धान' का लक्ष्य घोषित किया गया है, पर सम्पादक-द्वय यह यूं कह रहे हैं मानो इस दिशा में अबतक कुछ हुआ ही न हो और यह बीड़ा वे पहली बार उठा रहे हैं।

सुभाष गाताडे की राजनीतिक बिरादरी अन्यत्र भी यह चर्चा एक खास ढंग से करती रही है, जिसके चलते 'फोल्डर' का यह एक वाक्य गौरतलब बन जाता है।

समाजवाद के इतिहास और समस्याओं का एक ठोस समाहार **माओ** और चीन की पार्टी ने **सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति** के दौरान **पेरिस कम्यून** से लेकर उस समय तक के अनुभव के आधार पर प्रस्तुत किया था। उसके बारे में आपके क्या विचार हैं? इसके पूर्व, कुछ समाहार 1948-52 के दौरान **स्तालिन** ने भी प्रस्तुत किये थे। 1918 से 1922 के बीच समाजवाद की समस्याओं पर **लेनिन** ने भी बहुत महत्वपूर्ण सूत्रबद्ध विचार रखे थे। क्या कारण है कि सुभाष गाताडे जैसों के लेखन में इसकी चर्चा न के बराबर ही आती है?

हम समझते हैं कि किसी ऐतिहासिक सामाजिक प्रयोग की पश्चदृष्टि से सांगोपांग आलोचना और समाहार का काम तभी सम्भव होता है, जब पुनः सामाजिक प्रयोग के किसी उन्नत दौर की जमीन समाहारकर्ता के पैरों के नीचे हो और उपरोक्त आलोचना समाहार उक्त सामाजिक प्रयोग की जरूरत हो। आज के अपरिपक्व, अनुभवहीन छोटे-छोटे कम्युनिस्ट ग्रुपों की साम्प्रतिक जरूरत तो यह है कि पश्चिमी वामपंथी ''मुक्त चिन्तकों'' के अकादमिक आलोचनाओं-समाहारों के भ्रमजाल से मुक्त होकर पहले वे पेरिस कम्यून से लेकर सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति तक के प्रयोगों को मार्क्स-एंगेल्स-लेनिन-स्तालिन-माओ के लेखों से, प्रयोगकर्ता पार्टियों के लेखों के गम्भीर अध्ययन से जाने-समझें और अपने लिए जरूरी सबक निकालें। समाजवाद के इतिहास से जो जरूरी सबक सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति ने निकाले, उन्हीं से हम प्रयोग ओर समाहार की अपनी दृष्टि पा सकते हैं। अन्यथा सारी आलोचना अकादमिक मुक्त चिन्तन का कचड़ा बनकर रह जायेगी।

ये बातें हम इसलिए भी जोर देकर कह रहे हैं क्योंकि ऊपरी तौर पर स्तालिन और माओ का पक्षधर होने की बात करते हुए भी गाताडे की राजनीतिक बिरादरी मार्क्सवाद और संशोधनवाद के बीच की विभाजक-रेखा को बड़ी चतुराई से मिटा रही है। इस घालमेल के कई उदाहरण हैं। कहने को ये लोग दूसरे इण्टरनेशनल के नेताओं के विरुद्ध लेनिन के संघर्ष और **महान बहस** की बात करते हैं, पर मार्क्सवाद की क्रान्तिकारी अन्तर्वस्तु के बारे में लेनिन और माओ की शिक्षाओं पर से इनका विश्वास डिग चुका है। नेपाल में घोर संसदमार्गी ने.क.पा. (एकीकृत मा.ले.) के (चुनाव जीतकर) सत्तारूढ़ होने को वामपंथी शक्तियों की जीत बजाते हुए ये अपनी पत्रिका में डागा-बाजा बजाते रहे हैं। भा.क.पा. (मा.ले.) (लिबरेशन) को, पूरी तरह से ख्रुश्चोवी-देङपंथी हो जाने के बाद भी ये लोग बिरादर मानते रहे हैं और अपनी पत्रिका में विनोद मिश्र और नागभूषण पटनायक को श्रद्धांजलि देते रहे हैं।

किसी ऐतिहासिक सामाजिक प्रयोग की पश्चदृष्टि से सांगोपांग आलोचना और समाहार का काम तभी सम्भव होता है, जब पुनः सामाजिक प्रयोग के किसी उन्नत दौर की जमीन समाहारकर्ता के पैरों के नीचे हो और उपरोक्त आलोचना समाहार उक्त सामाजिक प्रयोग की जरूरत हो।

वैसे 'संधान' के दूसरे (भावी) सम्पादक **लाल बहादुर वर्मा** तो **'इतिहास-बोध'** पत्रिका में नम्बूदरीपाद को भी भावविह्वल श्रद्धांजलि देते रहे हैं। पर उनकी तो बात ही और है। वे तो सदा से शाश्वत-शंकालु वामपंथी रहे हैं। उनकी निजी पत्रिका 'इतिहास बोध' क्रान्तिकारी अवस्थिति के लेखों को उदारतापूर्वक छापने के साथ ही नेहरू के ''सामाजिक जनवाद'' तक पर लहालोट होती रही है। स्तालिन का सही मूल्यांकन करने वाला लेख छापने में भी लाल बहादुर वर्मा को कोई परहेज नहीं होगा, पर वे स्तालिन के ''अत्याचारों'' को लेकर शंकालु भी बने रहेंगे और कुख्यात त्रात्स्कीपंथी एलन वुड्स की प्रतिभा और तर्कों पर भी न्यौछावर होते हुए त्रात्स्कीपंथियों के आयोजन में शामिल होकर कृतकृत्य होने पाकिस्तान तक चले जायेंगे। ऐसे ढुलमुल लोग यदि अपनी सामाजिक जनवादी दिमागी बुनावट को 1990 के पहले तक के राजनीतिक पर्यावरण में ठीक नहीं कर सके तो आज के अकादमिक ''मुक्त चिन्तन'' के दौर में भला क्या उम्मीद की जा सकती है जब तमाम किताबी कीड़ों, कलमघसीटों, व्यवहार के मैदान के पिटे प्यादों, अवकाशप्राप्त ''एन.जी.ओ. ब्राण्ड मार्क्सवादियों'' और नौदौलतियों ने क्रान्तिकारी वामपंथियों को कोसने, फटकारने, धिक्कारने, नसीहतें देने ओर (रसातल का) रास्ता दिखाने का ठेका ले रखा है।

दरअसल सुभाष गाताडे की राजनीतिक बिरादरी स्तालिन की गलतियों ओर अवदानों के बारे में माओ और चीन की पार्टी से कुछ भिन्न, यूरोपीय नववाम के निकट की अवस्थिति रखती है। यह

यहां-वहां प्रकट तो होती है, पर औपचारिक अवस्थिति अपनाने के बजाय वे एक अवसरवादी चुप्पी या ''दांये-बांये'' हो जाने का रवैया अपनाते हैं। ऐसे लोगों की एक फितरत यह भी होती है कि वे जो दस्तावेजों में लिखते हैं, उससे ज्यादा फुटकल लेखों में लिखते हैं और उससे भी ज्यादा मुक्त होकर गोष्ठियों-सेमिनारों में और सबसे ज्यादा मुक्त होकर अनौपचारिक बातचीत में बोलते हैं। पर अपनी 'आफीशियल पोजीशन' को लम्बे समय तक 'कोल्ड स्टोरेज' में रखे रहते हैं, या तो इंच-इंच करके खर्च करते हैं, या फिर बदबू करने पर एक दिन पिछवाड़े ले जाकर फेंक आते हैं। **'महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति'** को समाजवाद की समस्याओं को हल करने की दिशा में ''एक प्रयोग'' से अधिक वे कुछ नहीं मानते। 'पूंजीवाद की पुनर्स्थापना' शब्दावली का इस्तेमाल करते हुए भी स्तालिनोत्तर कालीन पूर्व सोवियत संघ, पूर्वी यूरोप और देङपंथियों के समय के चीन के लिए वे अपने दस्तावेजों में 'एक्चुअली एक्जिस्टिंग सोशलिज्म' टर्म भी इस्तेमाल करते हैं, जो यूरोपीय नववामपंथियों की एक धारा इस्तेमाल करती रही है, जो यह नहीं मानती रही है कि ख्रुश्चोव के समय में हुए बदलावों को 'पूंजीवाद की पुनर्स्थापना' कहा जाना चाहिए। कुछ पश्चिमी वाममार्गी प्राय: इस टर्म का इस्तेमाल स्तालिन काल के लिए भी करते रहे हैं।

ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनसे देखा जाा सकता है कि सुभाष गाताडे ब्राण्ड वामपंथी बुनियादी विचारधारात्मक अवस्थितियों पर काफी ढुलमुल हैं और वस्तुत: सही क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट अवस्थिति छोड़ चुके हैं। क्रान्तिकारी वामपंथ से इनका रिश्ता आज फॉर्मल है और ये हमेशा 'आउटसाइडर' के रूप में ही उसकी आलोचना रखते रहे हैं। यही मूल कारण है कि इन्हें वामपंथियों का लोक से रिश्ता हमेशा से 'फार्मल' बना हुआ नजर आता है और लोक के लिए वामपंथी 'आउटसाइडर' दीखते हैं। दरअसल, क्रान्तिकारी वामपंथ के बरक्स गाताडे मण्डली की जो अपनी स्थिति है, उसे उन्होंने लोक और वामपंथ के बीच के रिश्तों पर प्रक्षेपित कर दिया है। पर उनका यह लोकवादी तेवर भी नकली है। एक ढोंगी उपदेशक का तेवर है। उनकी 'पालिटिक्स' और व्यवहार बताता है कि वे पुराने लोकवादियों के नाखून के मैल भी नहीं हो सकते। एक सही लोकवादी होने लिए, लोक से जुड़ने व उसके लिए 'इनसाइडर' बनने के लिए उनके जीवन और संघर्षों में एकदम शामिल हो जाना पड़ेगा, 'फार्मल' समर्थन के जुबानी जमाखर्च से तो यह होने से रहा। यह महज बौद्धिक विमर्शकों के बूते की बात नहीं।

विकल्प-4 के उपरोक्त परिचर्चा के अपने आलेख में सुभाष गाताडे ने कम्युनिस्टों को कठमुल्लावादी संकीर्णता के लिए हिकारत भरी फटकार लगाते हुए लिखा है :

> *''आन्दोलनों पर संगठनों का स्वामित्व जताना या स्थापित करना मूर्खता है। पार्टियां अपने पिछवाड़े समुद्र खोदकर उसमें लहर नहीं पैदा कर सकतीं। समुद्र तो समाज ही है और उसमें आन्दोलनों की लहरें उठती ही रहती हैं। इन लहरों पर सवारी की कला आनी चाहिए। ताकि क्रान्तिकारी पार्टी क्रान्ति तक यात्रा कर सके।''*

अपने पिछवाड़े समुद्र खोदकर लहर तो नहीं उठाई जा सकती, पर लहरों पर सवारी की कला सीखने के लिए समुद्र के निकट होना अनिवार्य है। किताबों में इस कला के गहन अध्ययन के बाद आप यदि लहरों की सवारी करने समुद्र के किनारे जायेंगे तो लहर आने पर या तो भाग जायेंगे या लहरों पर सवारी की कला की गहन जानकारी के बावजूद डूब जायेंगे।

आचार्य जी का यह सुभाषित व्यवहार की उनकी मार्क्सवादी समझ का एक प्रतिनिधि उदाहरण है—यह स्वत:स्फूर्ततापूजक विसर्जनवाद और संघाधिपत्यवाद के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। हर सर्वहारा संगठन आन्दोलनों पर स्वामित्व तो नहीं जताता, पर अपना नेतृत्व स्थापित करने की हर चन्द कोशिश करता है। हां, ऐसा वह छल-नियोजन या तिकड़म से नहीं परिस्थितियों के सही आकलन के आधार पर सही-सटीक नारे और प्रोग्राम देकर जनता की व्यापक आबादी को अपने पक्ष में खड़ा करके करता है। वह आन्दोलनों में भागीदारी का कर्तव्य पालन मात्र नहीं करता। यह सही है कि आन्दोलन समाज में उठते रहते हैं और क्रान्तिकारियों को अपने सही आकलन के आधार पर उनमें शिरकत करना होता है और अपना नेतृत्व कायम करना होता है, पर यह काम भी वही कर सकता है जो जनता के रोजमर्रे के संघर्षों में हर हमेशा साथ खड़ा हो। साथ ही, समाज में अपनी गति से उठने वाले आन्दोलनों की लहरों पर सवारी करने के साथ-साथ कम्युनिस्ट परिस्थितियों पर अपनी पकड़ के आधार पर सही समय पर सही नारे देकर आन्दोलन खड़ा भी करते हैं। अपने पिछवाड़े समुद्र खोदकर लहर तो नहीं उठाई जा सकती, पर लहरों पर सवारी की कला सीखने के लिए समुद्र के

निकट होना अनिवार्य है। किताबों में इस कला के गहन अध्ययन के बाद आप यदि लहरों की सवारी करने समुद्र के किनारे जायेंगे तो लहर आने पर या तो भाग जायेंगे या लहरों पर सवारी की कला की गहन जानकारी के बावजूद डूब जायेंगे।

राजनीति की दुनिया में यह तर्क प्राय: वे लोग देते हैं जो लहरों पर सवारी की कला सीखने के नाम पर सारी गतिविधियों को अकादमिक मशक्कतों की चौहद्दी में कैद कर देना चाहते हैं। इसीलिए ये लोग स्वयंस्फूर्तता के आराधक बने हुए हैं, पार्टी की हरावल भूमिका की नई परिभाषा गढ़ रहे हैं और सैद्धान्तिक कार्यों की आड़ में अन्य सभी कठिन, व्यावहारिक राजनीतिक कामों से मुंह मोड़ लेने की नसीहतें पिला रहे हैं।

बड़े अनुकूल अवसर पर ऐसे लोग संस्कृति के मंच पर पदार्पण कर रहे हैं। टकसाली वामपंथ और मौकापरस्त अकर्मण्य-ठण्डे विमर्श का बाजार तो वहां पहले से ही गर्म है। बस इन जैसों की ही कमी थी। ये लोग नवजागरण के जिन ''सम्भावित अग्रदूतों'' के लिए मंच खड़ा करेंगे, उस पर भण्ड अग्रदूत काफी प्रहसनात्मक गम्भीरता और गम्भीर कर देने वाले प्रहसनों से युक्त नाटक प्रस्तुत करेंगे। आज के युग सत्य की पोटली बांधकर अगले युग सत्य का संधान होगा। फिर उसकी पोटली बांधकर उसके बाद आने वाले अगले युग सत्य का संधान होगा और फिर उसकी पोटली बांधकर. ..... और यह सिलसिला जारी रहेगा। इनका हर संधान सिर्फ अगले संधान के लिए है। यदि संस्कृति के मोर्चे को हम सामाजिक क्रान्ति का एक अनिवार्यत: जरूरी मोर्चा बताते हुए इस मोर्चे पर भी विचारधारा के वर्चस्व को स्थापित करने में पार्टी की भूमिका की चर्चा करें या यह कहें कि सर्वहारा राज्यक्रान्ति तक तो वर्ग-संघर्ष का केन्द्रीय क्षेत्र राजनीतिक ही है और बुनियादी प्रश्न राज्यसत्ता का ही है तो ऐसे लोग फौरन चीख पड़ेंगे कि आप ''सांस्कृतिक आन्दोलन को राजनीतिक आन्दोलन के एक पुर्जे के रूप में देख रहे हैं!''

समकालीन पूंजीवाद की जो व्यवस्था रूप आलोचना ''क्रान्तिकर्म के उद्यम के प्रथम सोपान'' के रूप में 'संधान' प्रस्तुत करेगा, उसकी एक बानगी राजनीतिक अर्थशास्त्रीय मीमांसा की चौहद्दी में '**लोकदस्ता**' और '**परचम**' की ओर से प्रकाशित शोध ग्रंथ '**ग्लोबलाइजेशन ऑफ कैपिटल**' में सामने आ चुकी है। यूं तो इस पुस्तक की अलग से ही विशद समीक्षा की जानी चाहिए और आगे के किसी अंक में हम करेंगे भी, पर यहां इस पुस्तक की आम पहुंच-पद्धति-निष्कर्षों का उल्लेख अप्रासंगिक नहीं होगा। यह एक सार-संग्रहवादी, लक्षणवादी, पण्डिताऊ शोध कर्म है जिसने तमाम मार्क्सवादी अकादमीशियनों द्वारा अनेकश: पुस्तकों में प्रस्तुत भूमण्डलीकरण की अभिलाक्षणिक विशिष्टताओं को एकत्र करने का काम किया है। इसकी पूरी पहुंच-पद्धति विज्ञानवाद (साइण्टिज्म) के रोग से ग्रस्त है और दृष्टि प्रत्यक्षवादी (पॉजिटिविस्ट) है, जिसके चलते यह पुस्तक साम्राज्यवाद की शक्ति को बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत करती है और आन्दोलन के सामने एक पराजयवादी नजरिया पेश करती है। पूंजी के भूमण्डलीय चरित्र के बरक्स राष्ट्र राज्यों की घटती भूमिका का अतिरेकी आकलन इसे 'अधिसाम्राज्यवाद' की एक नई थीसिस गढ़ने की दिशा में उन्मुख दिखाता है। टिपिकल अकादमिक थीसिस की तरह यह ''खुले सिरों वाला'' शोध कार्य है, जिसका सर्वहारा वर्ग और उसकी पार्टियों के लिए कोई ऑपरेटिव पार्ट नहीं है, नई स्थितियों में मजूदरों के संगठित करने के नारों, रास्ते, रणनीति और नीति में आने वाले बदलावों का कोई हवाला तक नहीं है, क्योंकि यह महज समकालीन युगसत्य का ''युगान्तरकारी'' संधान है! युगसत्य के ऐसे संधान वस्तुत: युगसत्य पर शर-संधान हुआ करते हैं।

यदि संस्कृति के मोर्चे को हम सामाजिक क्रान्ति का एक अनिवार्यत: जरूरी मोर्चा बताते हुए इस मोर्चे पर भी विचारधारा के वर्चस्व को स्थापित करने में पार्टी की भूमिका की चर्चा करें या यह कहें कि सर्वहारा राज्यक्रान्ति तक तो वर्ग-संघर्ष का केन्द्रीय क्षेत्र राजनीतिक ही है और बुनियादी प्रश्न राज्यसत्ता का ही है तो ऐसे लोग फौरन चीख पड़ेंगे कि आप ''सांस्कृतिक आन्दोलन को राजनीतिक आन्दोलन के एक पुर्जे के रूप में देख रहे हैं!''

सुभाष गाताडे कं. लि. की जो इतिहास-निषेधी और 'आउटसाइडर' तथा मार्क्सवाद का ''रचनात्मक'' अनुप्रयोग करने वाली (यूं कहें कि नया ''मार्क्सवाद'' गढ़ने वाली) मौलिक दृष्टि है, उसे वह पेपर बहुत हद तक साफ कर देता है जो उन्होंने दलित-मुक्ति के प्रश्न पर '**साझा सांस्कृतिक अभियान**' के चण्डीगढ़ सेमिनार में प्रस्तुत किया था। इस दृष्टि से यह पेपर इतना महत्वपूर्ण है कि पूर्व प्रकाशित होने के बावजूद आगे हम इसे फिर से छापकर इसकी आलोचना प्रस्तुत करेंगे। पर यहां इस पेपर की संक्षिप्त चर्चा भी जरूरी है।

यह पूरा पेपर दलित-प्रश्न के सही वर्ग-विश्लेषण की जगह वर्ग-अवस्थिति से ही विचलन

का मार्ग अपनाता है और वस्तुत: भारतीय समाज की वर्गीय संरचना का दलितवादी (मध्यवर्गीय सुधारवादी) विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

पूरा पेपर दलित-प्रश्न की अनदेखी करने के लिए मार्क्सवादियों और कम्युनिस्ट आन्दोलन को काफी लताड़ लगाता है, लेकिन दलित आन्दोलन के नेतृत्व के बुर्जुआ सुधार से आगे न जाने की, उनके मध्यवर्गीय और बुर्जुआ चरित्र की, बुर्जुआ व्यवस्था में उनके स्वांगीकरण की काई चर्चा तक नहीं करता। सिर्फ अंत में प्यार से उन्हें पुचकारते हुए यह राय देता है कि उन्हें ब्राह्मणवादी संस्कृति के विरोध के साथ ही, सभी शोषित-उत्पीड़ित लोगों की मुक्ति के दर्शन से जोड़कर उस समग्र वैकल्पिक संस्कृति के बारे में सोचना होगा जिसमें दलित पूरीतरह मुक्त होगा और उसे सच्ची समानता हासिल होगी। यह गाताडे के सामाजिक जनवाद का घिनौना चेहरा ही है कि बुर्जुआ समाज और राजनीति की चौहद्दी के भीतर दलितों के एक अत्यन्त छोटे से पढ़े-लिखे मध्यवर्गीय तबके को जो अधिकार मिले हैं उसे सम्पूर्ण दलित आबादी के शौर्य, पराक्रम और संकल्प से अर्जित अधिकार मानकर वे गदगद हो जाते हैं और सत्ता के गलियारों में उनकी उपस्थिति देख तालियां बजाने लगते हैं।

तब यह स्वाभाविक ही है कि सुभाष गाताडे इस बात की कहीं चर्चा तक नहीं करते कि मार्क्सवादी विद्वानों ने ही जाति-प्रश्न पर सर्वाधिक वैज्ञानिक इतिहास-सम्मत विवेचना प्रस्तुत की है ओर न इस बात की चर्चा करते हैं कि किसतरह अम्बेडकर की अनैतिहासिक दृष्टि और गलत विश्व दृष्टिकोण के चलते उनके पास दलितों की सम्पूर्ण मुक्ति की कोई यथार्थवादी परियोजना कभी नहीं रही। वे इस बात के दस्तावेजी हवाले देते हैं कि कम्युनिस्ट पार्टी की कांग्रेसों के प्रारम्भिक दस्तावेजों में लम्बे समय तक जाति का प्रश्न या तो अनुपस्थित रहा, या फिर उसका संक्षिप्त उल्लेख मात्र रहा। पर यह चर्चा वे पूरे परिप्रेक्ष्य को बड़ी सफाई से छोड़कर करते हैं। जो कम्युनिस्ट पार्टी 1933 में पहली बार अपनी केन्द्रीय कमेटी बना सकी और सामन्तवाद-साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष में भरपूर भागीदारी के बावजूद, 1951 तक जिसके पास कोई 'भूमि कार्यक्रम' तो दूर, एक कार्यक्रम का सुसंगत दस्तावेज तक नहीं था, उसे जाति-प्रश्न पर औपचारिक, सांगोपांग दस्तावेज न होने के लिए अलग से कोसने के बजाय इन समस्याओं की जड़ पार्टी की विचारधारात्मक कमजोरियों में देखना होगा। इस पृष्ठभूमि को न बताना पाठकों को भटकाकर गलत नतीजों तक पहुंचाना नहीं तो भला और क्या है? चलते-चलाते दलितों के लिए कम्युनिस्टों की कुर्बानियों की चर्चा करने वाले गाताडे को यह शायद नहीं पता कि कम्युनिस्टों ने जाति और दलित उत्पीड़न के प्रश्न पर, अपने प्राय: सभी ग्रामीण कार्यक्षेत्रों में जुझारू सामाजिक आन्दोलन चलाये थे और यही वजह थी कि पार्टी के संशोधनवादी हो जाने के बाद भी लम्बे समय तक गांवों में दलितों में उनका जनाधार सुरक्षित बना रहा।

हम यह नहीं कहते कि दलित प्रश्न को लेकर कम्युनिस्ट आन्दोलन ने गलतियां नहीं की। विश्लेषण और वर्गों की लामबन्दी विषयक नीति-रणनीति बनाने के मामले में इस प्रश्न पर गलतियां हुईं पर यदि इन गलतियों को विचारधारा और परिस्थितियों के मूल्यांकन विषयक कम्युनिस्टों की बुनियादी गलती से जोड़कर, उस परिप्रेक्ष्य में नहीं देखा जायेगा तो यह घोर अनैतिहासिक बात होगी।

1952 के बाद के संशोधनवादी कुकर्मों के लिए कम्युनिस्टों को जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता। 1967 के बाद, कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के वामपंथी दुस्साहसवादी भटकाव और कार्यक्रम-सम्बन्धी गलत समझ के बावजूद, अपने कार्यक्षेत्रों में उन्होंने दलितों-आदिवासियों के सामाजिक उत्पीड़न के प्रश्न को अधिकांशत: मुद्दा बनाया और उनका समर्थन-आधार भी मुख्यत: उन्हीं के बीच था।

हम यह नहीं कहते कि दलित प्रश्न को लेकर कम्युनिस्ट आन्दोलन ने गलतियां नहीं की। विश्लेषण और वर्गों की लामबन्दी विषयक नीति-रणनीति बनाने के मामले में इस प्रश्न पर गलतियां हुईं पर यदि इन गलतियों को विचारधारा और परिस्थितियों के मूल्यांकन विषयक कम्युनिस्टों की बुनियादी गलती से जोड़कर, उस परिप्रेक्ष्य में नहीं देखा जायेगा तो यह घोर अनैतिहासिक बात होगी।

इसीतरह, आज, दलितों की अस्मिता और स्वतंत्र पहचान के संघर्ष में अम्बेडकर की ऐतिहासिक भूमिका को स्वीकारते हुए भी उनकी समग्र दृष्टि की बुर्जुआ परिसीमाओं की बेलागलपेट पड़ताल करनी होगी, दलित आन्दोलन के वर्तमान नेतृत्व की रीति-नीति और उनकी राजनीति के चरित्र एवं परिणति का भी विश्लेषण करना होगा तथा समग्रता में दलित प्रश्न का वर्ग-विश्लेषण वर्तमान सामाजिक-आर्थिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करना होगा। दलित-उत्पीड़न और सम्मान के प्रश्न को भावनात्मक मुद्दा बनाकर चुनावी गोट लाल करने वाले, मुश्किल से दो प्रतिशत दलित मध्यवर्गीय

आबादी के राजनीतिक नेतृत्व के सत्ताधर्मी चरित्र को बेनकाब किये बिना न तो दलित मुक्ति का प्रश्न हल होगा न भारतीय क्रान्ति का। गाताडे ने इस मसले पर लल्लो-चप्पो का घुटनाटेकू रवैया अपनाया है, इससे उनके साथ आम सर्वहारा दलित तो आने से रहे, मध्यवर्गीय दलितों का भी एक छोटा हिस्सा ही आयेगा, क्योंकि वह अपने जातिगत आधार पर उभरे नेतृत्व के ही साथ रहेगा।

दलित प्रश्न महज एक सामाजिक-सांस्कृतिक सुधार आन्दोलन का प्रश्न नहीं है। उन्हें बुर्जुआ सुधार के विभ्रमों से मुक्त करके यह बताना ही होगा कि दलित मुक्ति का प्रोजेक्ट सिर्फ श्रम की सत्ता वाले समतामूलक समाज के लिए जारी क्रान्ति का अंग ही हो सकता है। यह दो-टूक बताना उतना ही जरूरी है जितना गैर दलित सर्वहारा-अर्द्धसर्वहारा निम्न मध्यवर्गीय आबादी, गरीब किसानों और निम्न मध्य किसानों को यह बताना जरूरी है कि दलित आबादी के अपमान-उत्पीड़न और जातिगत उत्पीड़न के संस्कारों-प्रवृत्तियों को छोड़कर उनके साथ एका बनाये बगैर वे अपनी बदहाली और उजरती गुलामी से कत्तई मुक्त नहीं हो सकते। यह एक लम्बा कार्य है और इसे लगातार चलाना होगा। सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलन का यह एक बुनियादी कार्यभार है और धार्मिक अन्धविश्वास और रुढ़ियों के विरुद्ध प्रचार के साथ इसे जोड़ना होगा क्योंकि जाति प्रथा को आर्थिक आधार के साथ-साथ वहां से भी खुराक मिलती है। पर गाताडे ऐसी कोई परियोजना प्रस्तुत करने की जगह नीचतापूर्ण लल्लो-चप्पो का मार्ग अपनाते हैं, दलित आन्दोलन के इतिहास, नेतृत्व और उसकी नीतियों की विवेचना की जगह मात्र प्रशंसा-पुष्प बरसाते हैं, कम्युनिस्ट आन्दोलन पर पिल पड़ते हैं और कोई ठोस कार्यक्रम प्रस्तुत करने की बारी आने पर 'चूं' बोलकर रह जाते हैं। अपना रुख तो वे पेपर की शुरुआत में ही अम्बेडकर की इस उक्ति को उद्धृत करके स्पष्ट देते हैं कि जातिप्रथा के सर्वव्यापी राक्षस को मारे बिना न राजनीतिक सुधार हो सकते हैं, न धार्मिक सुधार।

दलित प्रश्न को राजनीतिक-आर्थिक सुधार नहीं बल्कि क्रान्ति के अंग के रूप में देखना सही दृष्टिकोण है और इसका हल क्रान्ति की पूर्वशर्त नहीं बल्कि उसकी पूरी प्रक्रिया का एक संघटक अवयव है। दूसरे, इस व्यवस्था के भीतर सांस्कृतिक आन्दोलन और राजनीतिक-आर्थिक मांगों के आन्दोलनों के साथ-साथ जाति-प्रथा विरोधी संघर्ष संचालित करना होगा। पहले जातिप्रथा को खतम कर लिया जाये, उसके बाद ही कोई सुधार सम्भव है, यह दृष्टि गलत है। गाताडे जी दरअसल एकदम अम्बेडकरवादी होकर या समागमवादी होकर कम्युनिस्ट आन्दोलन के भटकाव को समाप्त करना चाहते हैं। उनकी मर्जी!

दलित प्रश्न को राजनीतिक-आर्थिक सुधार नहीं बल्कि क्रान्ति के अंग के रूप में देखना सही दृष्टिकोण है और इसका हल क्रान्ति की पूर्वशर्त नहीं बल्कि उसकी पूरी प्रक्रिया का एक संघटक अवयव है। दूसरे, इस व्यवस्था के भीतर सांस्कृतिक आन्दोलन और राजनीतिक-आर्थिक मांगों के आन्दोलनों के साथ-साथ जाति-प्रथा विरोधी संघर्ष संचालित करना होगा। पहले जाति-प्रथा को खतम कर लिया जाये, उसके बाद ही कोई सुधार सम्भव है, यह दृष्टि गलत है।

लेकिन उनके पेपर में दूरगामी प्रभावों वाली जो सबसे खतरनाक बात है वह यह है कि दलित प्रश्न के विश्लेषण के बहाने एक नया मार्क्सवाद गढ़ने की कोशिश की गई है और ऐसा इसलिए कि वर्ग और वर्ग-संघर्ष के बुनियादी प्रश्न को दरकिनार किया जा सके। उनका पेपर अलग से छापने के बाद हम इस पहलू पर और विस्तार से लिखेंगे कि अल्थूसर और यूरोपीय नववाम के विभिन्न पुरोधाओं से कुछ चीजें लेकर किस तरह उन्होंने एक नये किस्म के संरचनावादी मार्क्सवादी पद्धतिशास्त्र का माजून तैयार किया है।

ऐसा करने के लिए उन्होंने एक काल्पनिक मार्क्सवादी मूर्ति गढ़ी है, जिसकी समझदारी आधार और अधिरचना के बारे में निहायत यांत्रिक है, जो फैक्ट्री गेट पर चलने वाले या जमीन के बंटवारे के संघर्ष को तो वर्ग संघर्ष मानता है पर दलित उत्पीड़न के विरुद्ध संघर्ष या नारी मुक्ति के संघर्ष को उससे इतर मानता है (!), जो वर्ग को आधार और जाति को अधिरचना मानता है (!!), जो जाति को अधिरचना के खाने में डाल देता है और मूलाधार (उत्पादन प्रणाली) में बचे शुद्ध पूंजीवाद की पड़ताल करके वर्ग और वर्ग-संघर्ष का मार्ग निकालता रहता है (!!!)...वगैरह-वगैरह।

इसके बाद गाताडे का विश्लेषण-प्रपंच शुरू होता है। वे आधार और अधिरचना की यांत्रिक समझदारी का उल्लेख तो करते हैं, पर सही समझदारी क्या है, यह नहीं बताते। मूल बात यह है कि वे इस प्रवर्गीकरण को ही यांत्रिक बताकर खारिज करना चाहते हैं। क्रान्ति का बुनियादी प्रश्न उत्पादन सम्बन्धों का प्रश्न है, इस बात को गोल करने के लिए भांति-भांति के सामाजिक जनवादी या तो उत्पादक शक्तियों के विकास पर जोर देते रहे हैं या उत्पादन-प्रणाली की समेकनवादी शब्दावली में बात करते रहे हैं। मार्क्सवादी विज्ञान **उत्पादन-सम्बन्धों** को आधार बताता है, पर गाताडे अपनी

लक्ष्यपूर्ति के लिए बताते हैं कि मार्क्सवादी **उत्पादन-प्रणाली** को आधार मानते हैं। इसके बाद पर्यवेक्षण और हस्तक्षेप के मनोगत अभिकर्ता की ('सब्जेक्टिव फैक्टर्स') पूरी तरह अनदेखी करते हुए उन्होंने चीजों के परिघटनात्मक स्तर से संरचनात्मक अन्तर्वस्तु तक पहुंचने की एक खूबसूरत आधिभौतिक यात्रा का वर्णन किया है, जिसकी असलियत साफ करने के लिए विस्तृत विश्लेषण जरूरी है। पर यह सारा भगीरथ-प्रयास उन्होंने जिस निष्कर्ष तक पहुंचने के लिए किया है, वही उनकी मंशा साफ कर देती है। मान्यवर का अंतिम निष्कर्ष यह है कि ''एक विकसित उत्पादन-प्रणाली और जटिल सामाजिक बनावट में संरचनात्मक स्तर का वर्ग-संघर्ष प्रत्यक्ष और अलग से प्रकट नहीं होगा। वह प्राय: सामाजिक संघर्षों और आन्दोलनों के उलझे हुए और विविध रूपों में ही सामने आयेगा। अत: सामाजिक आन्दोलनों को जैसे कि दलित आन्दोलन या नारी आन्दोलन को, वर्ग-संघर्ष से इतर या भिन्न मानना गलती है। **जटिल सामाजिक व्यवस्थाओं में वर्ग संघर्ष अनेक प्रकार के सामाजिक संघर्षों के रूप में ही प्रकट होगा।''** (जोर हमारा)

तो यहां पहुंचाना था चीजों को! यानी आज के भारत की विकसित उत्पादन-प्रणाली और जटिल सामाजिक बनावट वाले समाज में वर्ग संघर्ष नारी मुक्ति, दलित मुक्ति, पर्यावरण, बांध आदि-आदि के प्रश्नों पर **ही** होगा। यह है खांटी एन.जी.ओ. छाप वर्ग संघर्ष का खरा फार्मूला! लेकिन सच्चाइयां तो गाताडे जी के फार्मूलेशन को तमाचे पर तमाचे लगाये जा रही हैं! इसका क्या करें? आज पूरे देश में उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों के खिलाफ छंटनी-तालाबंदी, वेतन आदि को लेकर अलग-अलग कारखानों में जो संघर्ष हो रहे हैं, उनकी धारा तो अन्य सभी सामाजिक संघर्षों से (जो सारत: वर्ग संघर्ष का ही रूप है। एक वर्ग समाज में विचारों से लेकर सामाजिक सम्बन्धों-संस्थाओं तक के स्तर के सभी अन्तरविरोध सारत: वर्ग अन्तरविरोध और सभी संघर्ष सारत: वर्ग संघर्ष ही होते हैं) अधिक बलवती है किसानों के और खेत-मजदूरों के भी आन्दोलन आर्थिक-राजनीतिक मांगों को लेकर हो रहे हैं और फीस-बढ़ोत्तरी और रोजगार के प्रश्न पर छात्रों के भी। और यहीं नहीं, पूरी दुनिया में हो रहे हैं, अति विकसित उत्पादन-प्रणाली वाले अमेरिका, जापान, फ्रांस में भी। क्या वे वर्ग संघर्ष नहीं हैं या वे हैं ही नहीं और यह सिर्फ मतिभ्रम या दृष्टिभ्रम है कि वे हो रहे हैं?

दरअसल, कारखानों के मजदूरों को या गांव के गरीबों को समाजवादी क्रान्ति के लिए संगठित करने की जद्दोजहद से बचने के लिए यह चतुर तर्क गढ़ा गया है। ''क्रान्ति कार्य के प्रथम सोपान'' के रूप में वर्तमान पूंजीवाद के चरित्र और समाजवाद की समस्याओं पर सिद्धान्तकार लोग चिन्तन-मनन करते रहेंगे। तबतक कतारों को कोई काम तो चाहिए। सो उन्हें चढ़ने-उतरने के लिए एक खम्भा पकड़ा दिया समाज-सुधार का! दलित आन्दोलन और नारी आन्दोलन आदि को आज के वर्ग संघर्ष का **एकमात्र** रूप बताते हुए शायद गाताडे भी सवर्ण बनाम दलित या पुरुष बनाम स्त्री का कोई संघर्ष तो नहीं खड़ा करना चाहते होंगे। उनका मतलब शायद सांस्कृतिक-वैचारिक आन्दोलन से ही होगा और कुछ समाज-सुधार टाइप आन्दोलनों से। तो अब चिन्तन के साथ ही काम के नाम पर यह होगा और इसमें एन.जी.ओ. के साथ सहअस्तित्व से भी खूब मदद मिलेगी। क्या कहें इसे? 'एन.जी.ओ.-सुधारवाद' शायद सबसे उपयुक्त 'टर्म' होगा इसके लिए। इसीलिए इन महानुभावों को इधर कुछ दिनों से संस्कृति और सांस्कृतिक कामों का महत्व सहसा समझ में आया है, यह समझना अब कठिन नहीं है। यानी जनता की आर्थिक और राजनीतिक आन्दोलनों में भागीदारी और इन मांगों पर उसे लामबन्द और संगठित करने की कठिनाइयों से बच निकलने के लिए यह सारा सांस्कृतिक उपक्रम (या उपद्रव) हो रहा है। वास्तव में यह वर्ग-संघर्ष की नई समझदारी नहीं, बल्कि वर्ग-संघर्ष के लिए एक कार्यस्थगन प्रस्ताव है!

क्रान्ति कार्य के प्रथम सोपान'' के रूप में वर्तमान पूंजीवाद के चरित्र और समाजवाद की समस्याओं पर सिद्धान्तकार लोग चिन्तन-मनन करते रहेंगे। तब तक कतारों को कोई काम तो चाहिए। सो उन्हें चढ़ने-उतरने के लिए एक खम्भा पकड़ा दिया समाज-सुधार का!

•

सुभाष गाताडे की राजनीतिक बिरादरी की राजनीतिक अवस्थितियों और तर्क-पद्धति का यदि बारीकी से निरीक्षण-परीक्षण किय जाये तो उस पर **अल्थूसर, बालिबार** और **मैकरे** जैसों के संरचनावादी मार्क्सवाद, बहुतेरी नवग्राम्शीयाई धाराओं, **मौफ** और **लाक्लाऊ** जैसे उत्तरमार्क्सवादियों और पश्चिमी नववाम की विभिन्न नई-नई धाराओं की प्रभाव-छायाओं के साथ ही '**न्यू लेफ्ट रिव्यू**'

के (कु)ख्यात सम्पादक **पेरी एण्डरसन** का स्पष्ट असर दीखता है। इतिहासलेखन की 'सबआल्र्टन' वादी धारा और विविध उत्तर-आधुनिक विचार-सरणियों की पद्धतियों का प्रभाव इनकी शोभा में और चांद लगा रहा है या कहें कि करेले को नीम पर चढ़ा रहा है।

बहरहाल, पेरी एण्डरसन उन्हें इस मायने में भी दिशा दिखा रहे हैं कि सांगठनिक व्यक्ति होने के दबावों और घोषित क्रान्तिकारी निष्ठा की विवशताओं के चलते गाताडे जैसे लोग इतिहास के लिए जो कार्यस्थगन प्रस्ताव घुमा-फिराकर पेश कर रहे हैं, उसे एण्डरसन महोदय दो-टूक शब्दों में रख रहे हैं। उन्होंने (पेरी एंडरसन ने), पुराने सामाजिक जनवादियों का ही अनुसरण करते हुए उत्पादन के सम्बन्धों को तोड़ने के प्रश्न को दरकिनार करने का प्रस्ताव रखा है और स्पष्ट कहा है कि पूंजीवाद के भीतर अब यदि बदलाव होना है तो तकनीकी-वैज्ञानिक क्रान्ति के जरिए, उत्पादक शक्तियों के विकास के जरिए ही होना है और वह हो भी रहा है।

अपने इस नये प्रस्थानबिन्दु को रेखांकित करने के लिए एण्डरसन ने 'पुनर्नवीकरण' नाम से नव वर्ष की शुरुआत में 'न्यू लेफ्ट रिव्यू' का जो अंक निकाला, उसे पत्रिका की नई श्रृंखला बताते हुए अंकों का क्रम भी फिर से शुरू किया है। इस अंक में वे अपना प्रस्ताव कुछ यूं रखते हैं :

> *''यथार्थवादी वाम के लिए आज एकमात्र आरम्भ-बिन्दु यह है कि ऐतिहासिक पराजय की एकदम साफ-साफ इन्दराजी की जाये। पूंजी ने अपने शासन के विरुद्ध खड़े हर खतरे को पूरी तरह पराजित करके पीछे धकेल दिया है... वाम के लिए विगत शताब्दी का जो सबक है वह मार्क्स का बताया हुआ है। इसका पहला कार्यभार है, उत्पादन और मुनाफे की सतत् गतिशील जटिल मशीनरी के रूप में पूंजीवाद के वास्तविक विकास पर ध्यान देना... पूंजी की शक्ति के टक्कर की कोई सामूहिक एजेन्सी अभीतक क्षितिज पर भी नहीं नजर आती। हम एक ऐसे समय में रह रहे हैं, जब, जैसाकि जेनेटिक इंजीनियरिंग से भी प्रतीत होता है, इसके (यानी पूंजीवाद के-सं.) संतुलन को भंग करने में इससमय यदि कोई क्रान्तिकारी शक्ति सक्षम है तो वह शायद स्वयं वैज्ञानिक प्रगति ही है—यानी उत्पादन की शक्तियां, जो समाजवादी आन्दोलन जब जीवित था तब उत्पादन-सम्बन्धों की प्राथमिकता को मानने वाले मार्क्सवादियों के बीच इस कदर अलोकप्रिय थीं।*
>
> *''लेकिन यदि फिर कभी व्यवस्था में परिवर्तन के लिए मानव-ऊर्जाएं निर्मुक्त होंगी भी तो ये स्वयं पूंजीवाद के उपापचय (मेटाबोलिज्म) के भीतर से ही होंगी। हम इसे रद्द नहीं कर सकते। इस व्यवस्था के क्रम-विकास (इवोल्यूशन) में ही किसी दूसरी व्यवस्था के रहस्य निहित हैं।''*

कोई भी मार्क्सवादी उत्पादक शक्तियों की अनदेखी नहीं करता, लेकिन उत्पादन सम्बन्धों में क्रान्तिकारी बदलाव के लिए सामाजिक क्रान्ति के सचेतन प्रयासों के बजाय वह हाथ पर हाथ धरे इंतजार नहीं कर सकता कि अपने आप पुरानी व्यवस्था नई व्यवस्था के लिए रास्ता साफ कर देगी।

सर्वहारा क्रान्तियों की पराजय और विश्व स्तर के वर्ग शक्ति सन्तुलन में प्रतिक्रिया के पक्ष में बदलाव आज का सच है (और यह सच तो चीन में माओ की मृत्यु के बाद पूंजीवादी पुनर्स्थापना के पश्चात ही सामने आ चुका था), पर इसके व्यावहारिक निष्कर्ष सर्वहारा क्रान्तिकारियों के लिए अलग हैं और एण्डरसन जैसों के लिए अलग। एण्डरसन जैसे लोग साइबरनेटिक्स, जेनेटिक इंजीनियरिंग, संचार क्रान्ति आदि के मद्देनजर पूंजीवाद को एक ऊर्जस्वी-उर्वर क्रान्तिकारी शक्ति के रूप में देख रहे हैं। पर वे विश्व पूंजीवाद के असाध्य संकटों, सट्टा बाजार और जूआ की तथा कागजी अर्थव्यवस्था और अनिश्चितता को भी नहीं देख पाते, न ही अमीरी-गरीबी के बीच तेजी से बढ़ती खाई, छंटनी, तबाही और भुखमरी को ही देख पाते हैं और न ही इनके चलते एक बार फिर पूरी दुनिया में उठ रहे मजदूरों, ग्रामीण मेहनतकशों और छात्रों-युवाओं के आन्दोलन पर इनकी दृष्टि जाती है। या यूं कहें कि वे इन्हें देखकर भी नहीं देखते। वैज्ञानिक विकास को वे प्रगति का मूल्य-मुक्त अभिकर्ता मानते हैं और उसके पीछे के मुनाफा के मकसद और सामरिक उद्देश्यों की अनदेखी करते हैं। इन तमाम प्रगति के बावजूद, आज यूरोपीय साझा बाजार के देशों में एक करोड़ बेरोजगारों व पूंजीवादी विश्व में नये तीन चौथाई रोजगारों के अस्थायी, कम मजदूरी वाले और अकुशल मजदूरी के सामान्य स्तर वाले होने की सच्चाई के होते हुए, तथा लातिन अमेरिका में पिछले एक दशक से कायम संकट के रहते हुए, जिसने कि वहां के जीवन-स्तर को 1960 के स्तर से भी

नीचे पहुंचा दिया हो, और जबकि वित्तीय नेता एक और बड़े संकट का इन्तजार कर रहे हों, पूंजीवाद को एक ऊर्जस्वी शक्ति केवल कोई मूर्ख या भाड़े का टट्टू ही मान सकता है।

कोई भी मार्क्सवादी उत्पादक शक्तियों की अनदेखी नहीं करता, लेकिन उत्पादन सम्बन्धों में क्रान्तिकारी बदलाव के लिए सामाजिक क्रान्ति के सचेतन प्रयासों के बजाय वह हाथ पर हाथ धरे इंतजार नहीं कर सकता कि अपने आप पुरानी व्यवस्था नई व्यवस्था के लिए रास्ता साफ कर देगी। मार्क्स ''पूंजीवाद के वास्तविक विकास'' के एक अध्येता मात्र नहीं थे। वे एक सक्रिय क्रान्तिकारी थे और उनका अध्ययन सामाजिक संघर्ष के उनके प्रोजेक्ट का एक अविभाज्य अंग मात्र था।

आज पूरी दुनिया में साम्राज्यवाद और पूंजीवाद के विरुद्ध जो आन्दोलन, जनउभार और संघर्ष जारी हैं, वही वह सम्भावनासम्पन्न शक्ति है जो पूंजी की सत्ता को चुनौती दे रही है। सर्वहारा क्रान्तियों की फौरी पराजय से विचारधारा की पराजय नहीं हुई है। इन क्रान्तियों की विचारधारा और शिक्षाएं लुप्त नहीं हो सकतीं। आज पूरी दुनिया के विभिन्न देशों में जो क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट शक्तियां सक्रिय हैं, वे भी लुप्त नहीं होंगी। यदि होना होता तो अब तक हो गयी होंतीं। ये मनोगत अभिकर्ता ही विचारधारा को जनता के संघर्षों तक लेकर जायेंगे और सर्वहारा क्रान्तियों का नया चक्र संवेग ग्रहण करेगा। यह मानना कोई नियतत्ववाद नहीं है, बल्कि इतिहास के गति के नियमों के अनुरूप है।

दुनिया में साम्राज्यवाद और पूंजीवाद के विरुद्ध जो आन्दोलन, जनउभार और संघर्ष जारी हैं, वही वह सम्भावनासम्पन्न शक्ति है जो पूंजी की सत्ता को चुनौती दे रही है। सर्वहारा क्रान्तियों की फौरी पराजय से विचारधारा की पराजय नहीं हुई है। इन क्रान्तियों की विचारधारा और शिक्षाएं लुप्त नहीं हो सकतीं। आज पूरी दुनिया के विभिन्न देशों में जो क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट शक्तियां सक्रिय हैं, वे भी लुप्त नहीं होंगी। यदि होना होता तो अब तक हो गयी होंतीं। ये मनोगत अभिकर्ता ही विचारधारा को जनता के संघर्षों तक लेकर जायेंगे और सर्वहारा क्रान्तियों का नया चक्र संवेग ग्रहण करेगा।

●

वर्ग-अवस्थितियों से विचलन, पालापलट और इतिहास के लिए कार्यस्थगन-प्रस्तावों की इस धकापेल के बीच, '**हंस**' के सम्पादक **राजेन्द्र यादव** जैसे टकसाली, बाजारू, चौंक-चमत्कारवादी और रचनात्मक लेखन की रोशनाई सूख जाने के बाद बिना कुछ पढ़े-लिखे मार्क्सवादी बन बैठे कूपमण्डूक भी भला चुप क्यों रहते!

अपनी तमाम कूपमण्डूकतापूर्ण स्थापनाओं में नया इजाफा करते हुए उन्होंने 'हंस' के जनवरी 2001 अंक के सम्पादकीय में पूरी बीसवीं शताब्दी को ही ''**स्थगित शताब्दी**'' (भारतीय और वैश्विक, दोनों ही संदर्भों में) की संज्ञा दे डाली। उनकी दृष्टि में सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दियां पुनर्जागरण-प्रबोधन और महान बुर्जुआ जनवादी क्रान्तियों की नहीं बल्कि सिर्फ उपनिवेशों की स्थापना की सदियां थीं। उन्नीसवीं शताब्दी उनकी दृष्टि में, बुर्जुआ क्रान्तियों के मुकम्मल होने, मार्क्सवाद के जन्म और **पेरिस कम्यून** की नहीं, बल्कि यूरोपीय विचारों और औपनिवेशिक सत्ता के विश्व-विस्तार की शताब्दी मात्र थी। बीसवीं शताब्दी को वे महान सर्वहारा क्रान्तियों और समाजवादी प्रयोगों और राष्ट्रीय मुक्ति युद्धों के लिए नहीं बल्कि दो-दो महायुद्धों और आर्थिक के साथ ही वैचारिक उपनिवेशन के बारीक तौर-तरीकों के लिए याद करते हैं।

राजेन्द्र यादव को क्रान्तियों की पराजय के बावजूद, उनके वैचारिक-भौतिक अवदानों और इतिहास की अग्रवर्ती विकास का अहसास नहीं कराया जा सकता, क्योंकि वे स्वयं को 'वधस्थल की ओर जाते हुए पशु जैसा विवश मध्य वर्ग की चुकी हुई पीढ़ी का प्रतिनिधि मानते हैं। चाहकर भी हम उन पर दया नहीं कर पा रहे हैं।

फिर भी भारतीय सन्दर्भों में उन्हें विश्वास है कि ''*उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में हमने जिन लड़ाइयों को छोड़ा या सौ वर्षों तक स्थगित किये रखा* (भला कौन सी लड़ाइयां थीं ये? वास्तविक लड़ाइयां तो भारत में भी बीसवीं सदी में में लड़ी गयीं! - सं.), *वे ही इक्कीसवीं सदी की जमीनी लड़ाइयां होने जा रही हैं।*''

शताब्दियों के ठहराव और अंधेरे के बाद, इक्कीसवीं सदी के प्रति ही राजेन्द्र यादव इतने आशान्वित क्यों हैं? शायद किसी पैगम्बर ने बताया हो उन्हें!

बहरहाल, उन्हें **रसूल हमजातोव** की यह चेतावनी शायद पता नहीं कि 'यदि तुम अतीत पर बंदूक से गोली चलाओगे तो भविष्य तुम पर तोप से गोले बरसायेगा।' लेकिन राजेन्द्र यादव जैसों की बात क्या की जाये, इस चेतावनी का मर्म तो बहुतेरे युग-सत्य-संधानक पण्डित मार्क्सवादी भी नहीं समझ रहे हैं।

●

हिटलर के वंशजों का खतरनाक अभियान

• सुरेन्द्र कुमार

नौसेना विद्रोह में शामिल क्रान्तिकारी और वरिष्ठ पत्रकार

''प्रचार का पटुतापूर्वक और अविराम उपयोग लोगों को इस बात का कायल कर सकता है कि स्वर्ग नर्क है अथवा इसके उलट जीवन की सबसे अधिक दुर्भाग्यपूर्ण अवस्था का नाम स्वर्ग है।''

—एडोल्फ हिटलर, माइन काम्फ
(आत्म-कथा)

हिटलर के इस मंत्र की प्रांसगिकता उसके परवर्ती मानवद्वेषियों के लिए अप्रासंगिक हो गयी हो, यह सच नहीं है। इस संदर्भ में गत दशक के केवल दो किस्सों को याद करना पर्याप्त होगा। एक दिन आधी रात के कुछ ही समय बाद भारत के भिन्न-भिन्न भागों में गणेश की मूर्ति ने दूध पीना आरम्भ कर दिया था। उससे कुछ समय पहले अखबारों के दफ्तरों में फोन आने लगे यह पूछने के लिए क्या तत्कालीन राष्ट्रपति शंकरदयाल शर्मा का देहान्त हो गया है। पहली अफवाह और दूसरी अफवाह के फैलने या फैलाने का समय इतना सामंजस्यमय था मानो कोई टाइम-मशीन काम कर रही हो। यह बात इस विशाल भू-भाग के निवासियों की समझ में कुछ समय तक नहीं आयी थी कि भगवा ध्वज-वाहकों की नागपुर स्थित ''सैन्य-कमान'' में अफवाह-प्रसारण का कार्य वहां ठीक सत्ता हस्तान्तरण के समय हुआ था। नये सरसंघचालकों को यह देखना था कि उनका प्रचार प्रणाली तंत्र यथोचित ढंग से काम कर रहा है अथवा नहीं।

यह था प्रचारतंत्र का पटुतापूर्ण तथा अविराम प्रयोग। जिन दिनों विभाजनोपरान्त दिल्ली साम्प्रदायिक दंगों की आग में झुलस रही थी, उन्हीं दिनों की बात है, पूरी राजधानी में सुबह ही सुबह यह अफवाह बिजली की तरह दौड़ गयी कि शिक्षामंत्री मौलाना आजाद का देहावसान हो गया है। सुबह का समय था, इन पंक्तियों के लेखक ने अखबारी टेलिप्रिंटर पर इस सम्बन्ध में कोई खबर न आने पर सीधे मौलाना साहब के घर फोन किया यह सोच कर कि वहां से कोई न कोई तो कुछ बोलेगा।

दूसरी ओर से किसी ने फोन उठाया और इस लेखक के कुछ कहने से पहले ही उत्तर आया : ''भाई, मैं मौलाना बोल रहा हूं, जिन्दा हूं'', हंसी की ध्वनि सुनाई दी और लेखक ने इस सर्वथा अप्रत्याशित सम्पर्क से कुछ लज्जित होकर और कुछ घबराहट के साथ तुरन्त अपना फोन नीचे रख दिया। इस तरह का प्रचारतंत्र जिस संगठन के पास हो, वह लोगों के दिमाग में नरक की छवि को स्वर्ग की छवि में और स्वर्ग की छवि को नरक की छवि में कितनी आसानी से बदल सकता है, यह नागपुर की चितपावन मंडली के आदि पुरोधा एडोल्फ हिटलर 6-7 दशक पहले अपनी आत्म-कथा में दावे के साथ बता चुके थे। मौलाना के विषय में वह अफवाह भारत में साम्प्रदायिक शक्तियों के कबीले का शायद देशव्यापी पैमाने पर पहला प्रयोग था।

देश में वही प्रयोग बिना रुके किया जाने लगा है। 1947 व 1992 और इन दो मील के पत्थरों के बीच जमशेदपुर, भिवांडी, मुरादाबाद, मुज्जफरनगर, आदि-आदि में हुए जनसंहार—सब के सब इस प्रयोग की कारगरता के ज्वलन्त प्रमाण हैं।

अन्तर यह है कि जहां इसके आरम्भिक भक्तों में समाज का तलछट, लम्पट वर्ग था, वहां आज बिना परिश्रम के धन और सत्ता की प्राप्ति का सुगम मार्ग तलाश कर रही शक्तियों में लम्पटेतर पर कहीं अधिक क्रूर वर्ग-श्रेणियां भी मैदान में कूद रही हैं। अयोध्या को लेकर अब फिर आरम्भ हो चुकी आपाधापी में नाजियों और फासिस्टों के भारतीय संस्करणों ने अपने हर तरह के मुखौटे झोंक दिये हैं। लेकिन साथ ही कई चाहे-अनचाहे अपने मुखौटों के ऊपर भी चढ़े मुखौटों को उतारने के लिए विवश हो रहे हैं। एक नौटंकी—लेकिन खतरनाक नौटंकी खेली जा रही है, जिसमें पहले दिन महाधर्मगुरू ऐलान करते हैं कि बाबरी मस्जिद बम से उड़ायी गयी थी पर कुछ ही घंटों बाद ऐलान करते हैं कि उन्होंने तो गांधीवादी निर्मला देशपांडे के कथन का हवाला दिया था जिसे पत्रकारों ने उनके मत्थे मढ़ दिया। उसके कुछ ही घंटों बाद सुश्री देशपाण्डे ने पूरे प्रकरण को झूठ पर आधारित किस्सा और एक ''पार्टी विशेष'' के कुछ खास पार्टी-अधिकारियों को निर्दोष ठहराने के लिए प्रमाण जुटाने का प्रयास करार दिया था। इस बीच मुम्बई के ''कागजी शेर'' ने दहाड़ मारी, ''सारे मुस्लिमों को मताधिकार से वंचित करो'' और ठीक 24 घण्टे बाद वह ''दुम दबाकर'' अपनी बात से मुकर गया। परन्तु ये सब घोषणाएं-खण्डन-घोषणाएं सोची-समझी निकटगामी और दूरगामी रणनीति का अंग हैं, जो प्रहसनात्मक भले ही लगती हों, दरअसल एक ही वीभत्स कुचक्र का सिलसिला हैं।

ये सब दृश्य इस कारण और भी अर्थपूर्ण बन जाते हैं कि भारत के तिलकधारी और अतिलकधारी तालिबान केन्द्र में शिवजी के बारातियों के रूप में अपना आसन ग्रहण करने के बाद दो साल से दिल्ली के केशवकुंज और महाराष्ट्र के नागपुरधाम पर बार-बार सफेदी और रंग-रोगन करने में जुटे हुए हैं, हत्याएं किसी जातिविशेष के लोगों की करा रहे हैं तो दोषी किसी और को ठहरा रहे हैं, कुछ तो अपने प्रश्रयदाता 'सी आई ए' को भी कठघरे में खड़ा कर रहे हैं। और अपने इरादों को पूरा करने के साथ-साथ अपने पूर्व पापों का प्रायश्चित करने, दो टूक ढंग से कहें तो, अपने असल एजेण्डा को मूर्त रूप देने के लिए इतिहास का मिथ्याकरण करने, भंगेड़ी-गंजेड़ी कथित साधु-सन्तों को देश की धरोहर बताने, मानवता के सहस्रों शताब्दी से विकासमान मूल्यभावों को जल-समाधि देने

के अपने ''अश्वमेध यज्ञों'' में जुटे हुए हैं।

उनकी आंखों का पानी इस हद तक मर गया है कि अपने इतिहास को झुठलाने की दिन-रात कोशिश कर रहे हैं और दूसरों के विरुद्ध हर प्रकार की कुत्साओं का आश्रय लेने में चूक नहीं करते। लेकिन साम्प्रदायिकता की संज्ञा मिलते ही तिलमिला उठते हैं।

साम्प्रदायिकता का प्रसंग आते ही इस लेखक को अनायास विभाजन के तुरन्त बाद के दिल्ली और पंजाब का स्मरण हो आता है, जहां उसने पत्रकार के रूप में लोमहर्षक दृश्यों, लूटपाट, उखड़े लोगों की सम्पत्ति हड़पे जाने के न जाने कितने शर्मनाक दृश्य देखे थे। 12-12, 13-13 साल के शाखाई बालक पुरानी दिल्ली के नये चावड़ी बाजार की गलियों के मोड़ में खड़े होकर पुलिस संरक्षण में काफिलों से गुजरते निष्क्रमणार्थियों (अल्पसंख्यक) में से उन्हें जो बदकिस्मती से नुक्कड़ों के नजदीक होते, खींचकर छोटे-छोटे चाकुओं से गोद-गोद कर मार डालते थे। जब तक हममें से कोई हस्तक्षेप करने का यत्न करता, बच्चे भाग जाते परन्तु उनके बड़े-बुर्जुग, अधिकतर व्यापारी वर्ग के लोग हमें धमकी देते... और यह वर्ग कायर कितना होता है, इसका भी जीता-जागता प्रमाण उन्हीं दिनों देखने को मिला। एक साढ़े छह फुटा पठान था, जो काफिले से बहुत पीछे रह गया था। हम लोगों ने अपनी बालकनी से उसे सड़क के बीचोबीच चलने को कहा, तो उसने दोनों हाथ आसमान की ओर उठाकर कहा :''कुछ नहीं दोस्त, ऊपर अल्लाह है!!'' वह सीना तानकर पूरी चावड़ी बाजार से गुजरते हुए दिल्ली की जामा मस्जिद पहुंच गया। कायरों की दुनिया कितनी छोटी होती है!! परन्तु इतिहास की विडम्बना यह है कि सीमा के दोनों ओर के तालिबान अब फिर लामबंद हो रहे हैं और उनका सड़ा-गला रूप इस विशाल उपमहाद्वीप के अस्तित्व के लिए नये रूप में खतरा बन रहा है—और रही पंजाब की बात!! आग लगानी किसने शुरू की थी? यह लेखक 1949-50 में जालंधर में था, जब लाला जगतनारायण ने, जिन्हें और जिनके पुत्र रमेशचंद्र को भिंडरेवाला के लोगों ने मार डाला था, उस समय अपने चीथड़ेनुमा उर्दू अखबार ''पंजाब केसरी'' की बिक्री बढ़ाने के लिए निर्लज्जतापूर्वक सिखविरोधी अभियान शुरू किया था। उद्देश्य था अपनी बिक्री बढ़ाकर प्रतिद्वंद्वी उर्दू पत्रों के बीच सम्मान प्राप्त करना परन्तु निशाना था सिख सम्प्रदाय।

वह जनगणना का जमाना था। सिखेतर लोगों के घर जा-जाकर हिन्दी को मातृभाषा के रूप में दर्ज कराने का आह्वान किया जा रहा था। यह उस समय के आर्य महाशयों तथा स्वामियों का अभियान था, जिसने राष्ट्रवादी अकाली दल को अन्ततः पृथकतावाद की ओर धकेला। अविभाजित पंजाब में साम्प्रदायिकता के अग्निकुण्ड में तेल डालने का काम किया था उस समय के उन अखबारों ने, जिनके मालिक बहुत आगे चलकर दो देशों (भारत, पाकिस्तान) के ''तालिब'' बन गये। क्या थे तेवर उन अखबारों के उस समय : ''अमुक गली में गोली चल गई, ... हिन्दू (या मुस्लिम) मर गये!'' इस तरह की होती थीं नित्यप्रति के मुखपृष्ठों की सुर्खियां। यह खेल भारत के पंजाब में उर्दू और पंजाबी अखबारों ने खेला, जिसके घाव अब जाकर भरे हैं, हालांकि नागपुर के संतों ने इधर पंजाब में भी राष्ट्रीय सिख संगत की स्थापना करके दबी हुई चिनगारियों पर फिर से पंखा झलने का यत्न किया है।

एक बार फिर नागपुर के सन्तजनों के आध्यात्मिक पूर्वजों की चर्चा कर लें। अपने जमाने में यूरोप में भी नाजियों और फासिस्टों को विश्व के शक्तिशाली राजनेताओं तथा धनपतियों का आशीर्वाद प्राप्त था। ''अगर मैं इटली का नागरिक होता, तो मैं यकीनन लेनिनवाद की पाशविक क्षुधा और मनोवेगों को मिटाने के लिए आपके विजयमय संघर्ष में शुरू से लेकर अन्त तक आपके साथ होता... मैं मुसोलिनी से सम्मोहित हुए बिना नहीं रह सका...'' (पश्चिमी जगत में ''प्रजातंत्र'' के ध्वजवाहक विन्स्टन चर्चिल के उद्गार का एक अंश, जो **लन्दन टाइम्स** में 21 जनवरी, 1927 को प्रकाशित हुआ था), यह थी चर्चिल की इटली के तानाशाह मुसोलिनी के बारे में राय। और नौ वर्ष बाद भी याने द्वितीय महायुद्ध छिड़ने के तीन वर्ष पहले चर्चिल की नाजियों और फासिस्टों पर आसक्ति में कोई कमी नहीं आयी थी। उन्होंने हिटलर के सत्ता-अधिग्रहण के ढंग पर भावविभोर होकर ''उसके साहस, धैर्य और जीवन्त शक्ति'' की चर्चा करते हुए कहा था कि इन गुणों के बल पर उसने समस्त सत्ताधारियों और प्रतिरोधों को चुनौती दी, उनकी अवहेलना की, उन पर काबू पाया...'' (विन्स्टन चर्चिल, **हिटलर और उसका मार्ग चयन (च्वायस), (1935)।** अपनी बारी में हिटलर भी पश्चिम के पैगम्बरों का उतना ही प्रशंसक था। जातीय, घृणा, साम्राज्यवादी मनोवृत्ति, नस्ली भेदभाव दो शक्तियों को बांधने वाली जंजीर थी। इतिहास की विडम्बना है कि इन दो ने आखिर में अपने को विपरीत खेमों में पाया।

लगे हाथ सम्प्रदायगत उन्माद, उसके स्रोतों और अन्तिम नियति का मात्र एक दृष्टान्त प्रस्तुत करना पर्याप्त होगा। वियतनाम युद्ध के कारण व्याप्त देशव्यापी असन्तोष का शमन करने के लिए अमरीका में **सीआइए** ने एक धार्मिक-आध्यात्मिक पंथ का गठन कराया। उसका भी एक सर्वोच्च नेता था—जेम्स जोन्स। वर्षों तक इस पंथ को अमरीकी जासूसी एजेन्सी ने पाला-पोसा, बढ़ाया और फैलाया ताकि नये धर्मावतार की सहायता से अमरीकी युवक-युवतियों का ध्यान वियतनाम-अध्याय से हटाया जा सके। पर 1979 में जब वियतनाम-युद्ध का अन्त होने पर इस पंथ (कल्ट) की जरूरत नहीं रह गयी, तो हताश धर्मगुरू अपने एक हजार शिष्यों को लेकर अमरीका से गुयाना चले गये और एक जंगल में उसके विशाल जन समुदाय ने ''दैवी शक्ति के वशीभूत'' होकर सामूहिक रूप में आत्महत्या कर दी। पूरे एक हजार ने विषपान किया था। (देखें, **द एजेंसी, राइज एंड डिक्लाइन आफ सी आई ए, जान रैनेलाग, वाइडेनफेल्ड** एंड **निकलसन लिमिटेड, ग्रेट ब्रिटेन,** पृ. 697) और लगभग ढाई दशक बाद अमरीका में ही गुप्तचर कोषों से पोषित एक अन्य सम्प्रदाय के लोगों पर जब उनके संरक्षकों का नियंत्रण ढीला होता प्रतीत हुआ, तो अमरीकी सेना के टैंकों, राकेटों तथा तोपों ने साढ़े तीन सौ लोगों को भून डाला और उनकी पूरी बस्ती का नामोनिशां मिटा दिया।

इन सम्प्रदायों की चर्चा करना आवश्यक है क्योंकि हिन्दुस्तान के लगभग सभी ''भगवानों'', ''योगियों'', ''अध्यात्मवाद के प्रवक्ताओं''— जादूगर साई बाबा, महेश योगी, रजनीश, आनन्दमार्गी चन्द्रास्वामी, हरे राम हरे कृष्ण पंथ के भूतपूर्व तथा वर्तमान ध्वजवाहक, विष्णु'' के अवतार बालयोगी आदि—को फलने-फूलने का आधार पश्चिम के नवउपनिवेशवाद ने ही मुहैया किया, ताकि उनके साम्राज्यवाद को ढहाने वाले जनगण को प्रतिशोधस्वरूप नये साधनों से मतिमूढ़

बनाया जा सके। यह भी विस्मरण नहीं किया जाना चाहिए कि लगभग डेढ़ दशक पहले भारत के आयकर विभागाधिकारियों ने राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की ''सन्तमण्डली'' विश्व हिन्दू परिषद से उसे विदेशों से प्राप्त सैकड़ों करोड़ डालर की धनराशि का ब्यौरा मांगा, तो आयकर कमिशनर विश्वबन्धु गुप्त के हाथ से पूरा मामला छीन लिया गया। सम्बन्धित फाइलों का क्या हश्र हुआ, यह समझने के लिए किसी गहरी सूझबूझ की आवश्यकता नहीं है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के पास कुप्रचार और अशान्ति फैलाने की सबसे बड़ी मशीन है, यह तथ्य समय-समय पर सिद्ध होता रहा है। सरस्वती विद्यालयों का फैलता जाल, गली-गली में भगवती जागरणों का स्थायी होता जा रहा उन्माद, गली-कूचियों में साधु-साध्वियों का विष-वमन, इन सबका आयाम उसी मात्रा में विस्तारित होता जा रहा है, जिस मात्रा में साम्प्रदायिकताविरोधी शक्तियां

(शेष पृष्ठ 33 पर)

एक भयानक साजिश

इधर रा.स्व.से.सं. का एक सबसे अधिक लोमहर्षक तथा नग्न चित्र प्रकाश में आया है, उसे श्री राजेश्वर दयाल (आई.सी.एस.) ने (अब स्वर्गीय) अपनी पुस्तक **''एक लाइफ आफ अवर टाइम''** (ओरियंट लांगमैन, 1998, पृ. 93-94) में प्रस्तुत किया है। वह 1946-47 की चर्चा करते हैं जब वह यू. पी. के गृह सचिव थे। इस मानवद्वेषी संस्था ने किस तरह पश्चिमी यू.पी. के मुस्लिम इलाकों में मकानों, सड़कों, गलियों तक के नक्शे तैयार किये थे, जनसंहार का कैसा षड्यंत्र रचा था और कैसे यह सब सम्बद्ध क्षेत्रों में सरसंघचालक मा.स. गोलवलकर की उपस्थिति में किया गया था, यह पढ़ें राजेश्वर दयाल के ही शब्दों में :

''मैं बहुत ही गम्भीर स्वरूप का एक वृत्तान्त दर्ज करना चाहता हूं, जब यू.पी. मंत्रिमंडल के टालमटोल और अनिर्णय के भयावह परिणाम निकले। साम्प्रदायिक तनाव का उन्माद अभी पूरे जोरों पर था कि वेस्टर्न रेंज की पुलिस के डिप्टी इन्सपेक्टर जनरल बी.बी.एल. जेतली, जो बहुत ही तपे-मंजे हुए और सुयोग्य अफसर थे, मेरे निवास-स्थान में अत्यन्त गुप्त रूप से आये। उनके साथ दो पुलिस अफसर थे, जिनके पास अच्छी तरह तालाबंद इस्पात के बड़े-बड़े ट्रंक थे। जब ट्रंक खोले गये तो प्रान्त के सारे के सारे पश्चिमी जिलों में साम्प्रदायिक आधार पर नरसंहार करने की कायरतापूर्ण साजिश उजागर हो गयी। ट्रंक उस विशाल भू-क्षेत्र के हर शहर और गांव के ऐसे ब्लूप्रिंटों (नक्शों) से सटासट भरे थे, जिनमें किसी भूलचूक की गुंजाइश नहीं थी और जिन्हें बिलकुल पेशेवर ढंग से तैयार किया गया था। इनमें मुस्लिम बस्तियों और मुस्लिम आबादी वाले इलाकों पर खूब मोटे-मोटे निशान अंकित थे। भिन्न-भिन्न लक्षित स्थानों तक कैसे पहुंचा जाये, इस बारे में और दूसरी चीजों के बारे में ब्यौरेवार निर्देश दिये गये थे। ये सब उनके महाअनर्थकारी मन्तव्य पर पर्याप्त प्रकाश डाल रहे थे।

''इस रहस्योदघाटन से अत्यन्त चिन्तित होकर मैं पुलिस पार्टी को सीधे प्रधानमंत्री (उस समय मुख्यमंत्री के लिए प्रीमियर-प्रधानमंत्री —शब्द का उपयोग किया जाता था-अनु.)'' की कोठी में ले गया। वहीं एक बंद कमरे में जेतली ने अपनी खोज की पूरी रिपोर्ट पेश की, जिसके सारे प्रमाण ट्रंकों में थे। रा.स्व.से.सं के अड्डों पर ठीक वक्त पर छापा मारे जाने से एक विराट षड्यंत्र का भंडाफोड़ हो गया। सारी साजिश स्वयं संगठन के सुप्रीमो के निर्देशन और संचालन में सामंजस्यपूर्ण ढंग से रची गयी थी। **जेतली और मैंने – हम दोनों ने – प्रमुख मुलजिम, श्री गोलवलकर की फौरन गिरफ्तारी पर जोर दिया।**

''पन्त जी अपने समक्ष जीते-जागते प्रमाण को स्वीकार किये बिना नहीं रह सकते थे। लेकिन गिरोह के रहनुमा को फौरन गिरफ्तार करने के बजाय, जिसकी हम अपेक्षा कर रहे थे और जो कि रफी अहमद किदवई, (गृहमंत्री - अनु.) जरूर करते, पन्तजी ने मसला मंत्रिमंडल की अगली बैठक में विचार-विमर्श के लिए पेश करने के वास्ते कहा। बेशक, यह राजनीतिक दृष्टि से नाजुक मसला था क्योंकि रा.स्व.से.सं. की जड़ें देश के जीवन में गहराई तक पहुंची हुई थीं। इसके अलावा और भी राजनीतिक मजबूरियां थीं, जिनकी वजह यह थी कि आर.एस.एस. के प्रच्छन्न तथा प्रत्यक्ष, दोनों प्रकार के हमदर्द खुद कांग्रेस पार्टी, यहां तक कि मंत्रिमंडल में भी पाये जा सकते थे। अपर हाउस (विधान परिषद–अनु.) के अध्यक्ष आत्म गोविन्द खेर स्वयं रा.स्व.से.सं. से संलग्न थे और उनके पुत्र रा.स्व. से.सं. के प्रत्यक्ष सदस्य थे, यह बात किसी से छुपी नहीं थी।

''मंत्रिमंडल की बैठक में आम ढंग से टालमटोल होता रहा और अप्रासंगिक बातें की गयीं। पुलिस ने एक ऐसी साजिश का पर्दाफाश किया था, जो पूरे प्रान्त को आग में झोंक सकती थी सम्बद्ध अधिकारी हार्दिक प्रशंसा के पात्र थे—इस तथ्य की विचार-विमर्श के दौरान चर्चा ही नहीं हुई। आखिर में जो तय हुआ, वह यह था कि श्री गोलवलकर के नाम एक चिट्ठी भेजी जाये, जिसमें जमा किये गये प्रमाणों की अन्तर्वस्तु और उसका स्वरूप उन्हें बताया जाये और इस बारे में उनसे सफाई मांगी जाये। अगर ऐसी चिट्ठी मेरे जोर देने पर जारी की जाती है, तो उसे वजनदार बनाने के लिए खुद प्रधानमंत्री (पन्तजी) के नाम से भेजा जाना चाहिए। पन्तजी ने मुझे मसौदा तैयार करने के लिए कहा, जो मैंने उनकी ही विशिष्ट शैली की नकल करते हुए बनाया। चिट्ठी फौरन भेजी जानी थी। दो पुलिस अफसरों को यह काम सौंपा गया परन्तु गोलवलकर को पहले ही सावधान कर दिया गया था। इलाके (पश्चिमी यू.पी.–अनु.) में कहीं उनका नामोनिशां भी नहीं था। खोजते-खोजते पता चला कि वह दक्षिण की ओर चले गये हैं। वह पीछा करने वालों को चकमा देने में सफल रहे। स्थान-स्थान पर उनका पीछा किया जाता रहा, जिसका कोई फल नहीं निकला और कई हफ्ते गुजर गये।

''फिर आया 1948 का 30 जनवरी का दिन, जब शान्ति का सर्वोच्च दूत रा.स्व.से.सं. के एक मतान्ध की गोली का शिकार बना। पूरे त्रासदीभरी प्रकरण पर मुझे उबकाई आने लगी।''

प्रस्तुति : सुरेन्द्र कुमार

औपनिवेशिक भारत में लोक भाषाओं एवं लिपियों का शिक्षा व्यवस्था से निष्कासन

● नरेश प्रसाद भोक्ता

औपनिवेशिक शासन ने भारत की सामाजिक संरचना को व्यापक रूप से प्रभावित किया। सामाजिक जीवन का शायद ही ऐसा कोई क्षेत्र हो जो अंग्रेजी राज के प्रभाव से अछूता रहा हो। भारत में औपनिवेशिक शासन की स्थापना के साथ ही राजनीतिक एवं प्रशासनिक क्षेत्र में केन्द्रीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गयी। सामाजिक-सांस्कृतिक क्षेत्र में इसका पूरक भाषाओं एवं लिपियों का मानकीकरण था। प्रशासनिक सुविधा को ध्यान में रखते हुए अंग्रेज शासकों ने अनेक दूरगामी निर्णय लिए जिसने भारत के भाषा परिदृश्य को परिवर्तित कर दिया एवं कई लोकभाषाओं एवं लिपियों को विद्यालयों एवं प्रशासनिक कार्यालयों से निकाल कर उन्हें निष्प्रभावी बना दिया।

अंग्रेजी भाषा पढ़े भारतीयों ने भी अनेक लोकभाषाओं को सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन के हाशिये तक पहुंचाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। औपनिवेशिक शासन ने एक नये मध्यम वर्ग के निर्माण में सहायक आवश्यक परिस्थितियों को पैदा किया। यह नवीन मध्यम वर्ग प्रचलित सामाजिक-सांस्कृतिक संस्थाओं एवं भाषाओं को हेय दृष्टि से देखता था। बिहार एवं उत्तरी-पश्चिमी प्रान्त (वर्तमान उत्तर प्रदेश) में इस उभरते नवीन मध्यम वर्ग ने एक ऐसी तत्सम प्रधान भाषा का निर्माण करना प्रारम्भ किया जिसमें कुछ हद तक संस्कृत भाषा का परिष्कार एवं अंग्रेजी भाषा की पंथ निरपेक्षता थी। इस भाषा के समर्थकों ने इसे ही ''शिष्ट जनों की शिष्ट भाषा'' कहना प्रारम्भ किया। प्रतिक्रियास्वरूप उर्दू भाषा के समर्थकों ने भी बड़ी संख्या में अरबी एवं फारसी शब्दों का उर्दू लिखने में प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया लेकिन इस प्रक्रिया में दोनों ही समूहों ने जन सामान्य की भाषाओं जैसे—मगही, मैथिली, भोजपुरी, अवधी, ब्रजभाषा आदि की पूर्ण उपेक्षा करना प्रारम्भ कर दिया। संस्कृत मिश्रित हिन्दी एवं फारसी प्रधान उर्दू नये मध्यम वर्ग की सांस्कृतिक-सामाजिक आवश्यकताओं को संतुष्ट करने में तो सक्षम थे लेकिन ये भाषाएं जन सामान्य की सांस्कृतिक एवं व्यावसायिक आवश्यकताओं को पूरा करने में अक्षम थीं। इस प्रकार मध्यम वर्ग और जनसामान्य के बीच एक ऐसी खाई का निर्माण हुआ जिसे स्वतंत्र भारत में भी पाटा नहीं जा सका।

समस्या को बेहतर ढंग से समझने हेतु यह आवश्यक है कि उन्नीसवीं शताब्दी के बिहार एवं उत्तरी-पश्चिमी प्रांत की भाषा स्थिति पर एक सरसरी निगाह डाली जाये।

उन्नीसवीं शताब्दी में भाषा-स्थिति

प्रारम्भ में ही यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि आधुनिक हिन्दी गद्य का लिखा जाना उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में शुरू हुआ। प्रायः सभी भाषाविद् स्वीकार करते हैं कि संस्कृत प्रधान हिन्दी गद्य का जन्म अपेक्षाकृत हाल की घटना है। प्रसिद्ध भाषाविद् सुनीति कुमार चटर्जी लिखते हैं—''हिन्दी का खड़ी बोली रूप भारतीय भाषाओं में सबसे नया है। वास्तव में 1800 ई. के पूर्व इसका साहित्य में प्रयोग नहीं होता था और इसका प्रभावशाली साहित्यिक प्रयोग 1850 ई. के उपरान्त ही प्रारम्भ हुआ।''[1] हिन्दी साहित्य के महत्वपूर्ण इतिहासकार आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी स्वीकार करते हैं कि ''उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में वास्तविक हिन्दी गद्य का सूत्रपात हुआ। इस समय तक साहित्य में ब्रजभाषा का ही प्राधान्य था''।[2] आचार्य द्विवेदी के अनुसार यह विकास भारतीय संस्कृति एवं समाज पर अंग्रेजी शासन के प्रभाव का परिणाम था। ज्योतिन्द्र दास गुप्ता भी यह स्वीकार करते हैं कि ''परिनिष्ठित साहित्यिक हिन्दी तुलनात्मक रूप से आधुनिक भाषा है, और मुश्किल से डेढ़ सौ वर्ष पुरानी।''[3]

जी.ए. ग्रियर्सन[4] ने व्याकरण के आधार पर हिन्दी से सम्बन्धित भाषाओं/बोलियों को तीन समूहों में बांटा है एवं तीनों को अलग-अलग भाषाओं का दर्जा दिया। ये है—बिहारी, पूर्वी हिन्दी एवं पश्चिमी हिन्दी।

भाषा की दृष्टि से बिहार इण्डो-आर्यन परिवार के पूर्वी समूह में पड़ता है।[5] जो भाषा/भाषाएं बिहार एवं उसके समीपवर्ती क्षेत्रों में बोली जाती हैं उसे ग्रियर्सन ने ''बिहारी'' नाम से पुकारा। बंगला, उड़िया एवं असमिया की ही तरह बिहारी भाषा भी पुरानी भाषा मागधी-प्राकृत की सीधी सन्तान है। एक ही स्रोत से विकसित होने के कारण बिहारी भाषा का व्याकरणिक रूप उपरोक्त भाषाओं की ही तरह है लेकिन उत्तर-पश्चिम प्रांत से लगातार सामाजिक-सांस्कृतिक सम्पर्क होने के कारण इस पर पूर्वी हिन्दी का भी प्रभाव पड़ा है। शब्दावली, स्वर विज्ञान एवं व्याकरण के दृष्टिकोण से बिहारी बंगाली व पूर्वी हिन्दी के मध्य रखी जा सकती है। ग्रियर्सन ने ''बिहारी'' शब्द का प्रयोग बिहार की तीन भाषाओं/बोलियों—मैथिली, मगही, भोजपुरी के सन्दर्भ में उनकी पारस्परिक समानता को देखते हुए किया है। भारतीय शिक्षा आयोग (1882-83) के समक्ष अपना साक्ष्य प्रस्तुत करने के क्रम में ग्रियर्सन ने बिहारी भाषा के अलग अस्तित्व को स्पष्ट करते हुए कहा—

''यह विचार कि हिन्दी बिहार की भाषा है कोलब्रुक के समय से चले आ रहे इस गलत धारणा पर आधारित है कि सभी भारतीयों की भाषा एक है। बंगला के अलग अस्तित्व को सिद्ध करने में काफी समय लगा। उसके उपरान्त ही असमी, उड़िया एवं पंजाबी की खोज हुई। पर बिहारी भाषा की ओर किसी का ध्यान नहीं गया। अतः यह

धारणा घर कर गयी कि बिहारी भाषा में कोई साहित्य नहीं है। वस्तुत: इसका साहित्य उतना ही विस्तृत है जितना अंग्रेजों के प्रयास के पूर्व हिन्दी का था। मजेदार तथ्य यह है कि बिहारी साहित्य के सर्वोत्तम अंश को बंगालियों ने अपना मान लिया तथा इसके अस्तित्व को ही उन लोगों ने नकारा जो हिन्दी को पूरे देश की भाषा सिद्ध करने पर तुले हुए थे।''[6]

बिहारी भाषा समूह हिन्दी एवं बंगला से अलग है इस तथ्य को प्रसिद्ध भाषाविदों ए.ई. रुडोल्फ हार्नले[7] तथा जी.ए. ग्रियर्सन[8] ने उन्नीसवीं शताब्दी के आठवें दशक में ही सिद्ध किया तथा आधुनिक समाजशास्त्री एल.पी. विद्यार्थी[9] पॉल आर.ब्रास[10] आदि भी इसके अलग अस्तित्व को स्वीकारते हैं।

उत्तरी-पश्चिमी प्रान्त एवं अवध में पूर्वी एवं पश्चिमी हिन्दी से सम्बन्धित अनेक बोलियों या लोकभाषाओं का प्रयोग किया जाता था। पूर्वी हिन्दी की तीन प्रमुख उपभाषाएं हैं—अवधी, बघेली एवं छत्तीसगढ़ी। इनमें अवधी सर्वप्रमुख हैं जिसमें मध्यकाल में मल्लिक मुहम्मद जायसी एवं तुलसीदास ने श्रेष्ठ साहित्य की रचना की। लखनऊ दरबार के प्रभाव के कारण अवधी पूरे अवध के हिन्दुओं एवं मुसलमानों की भाषा बन गयी।

पश्चिमी हिन्दी का क्षेत्र पंजाब के सरहिन्द से उत्तरी-पश्चिमी प्रान्त के इलाहाबाद तक विस्तृत था। इसकी कई उपभाषाएं हैं लेकिन इनमें अधिक प्रसिद्ध ब्रजभाषा, हिन्दुस्तानी, कन्नौजी एवं बुन्देली है। हिन्दुस्तानी, जो कि खड़ी बोली पर आधारित है, आधुनिक काल में साहित्यिक अभिव्यक्ति के प्रमुख माध्यम के रूप में उभरकर सामने आयी। ब्रजभाषा मध्य दोआब की भाषा है जिसका मुख्य सांस्कृतिक केन्द्र मथुरा है। ब्रजभाषा ने सूरदास एवं बिहारीलाल जैसे प्रसिद्ध कवियों को जन्म दिया। कन्नौजी काफी हद तक ब्रजभाषा से मिलती जुलती है।

इन भाषाओं का विकास 14वीं शताब्दी के मध्य तक चलने वाले भक्ति-आन्दोलन का परिणाम है। भक्ति आन्दोलन के अग्रणी सन्त विभिन्न सामाजिक पृष्ठभूमियों से आये थे पर उनमें से अधिकांश शिल्पी वर्ग से थे या कृषि कार्य से सम्बन्धित थे। कुछ ब्राह्मणों ने भी भक्ति आन्दोलन में हिस्सा लिया पर ''मुख्य तौर पर भक्ति आन्दोलन के संत एवं उनके अनुयायी निम्न जातियों के ही थे।[11]

इन सन्तों ने जाति व्यवस्था का विरोध करते हुए सामाजिक समानता की वकालत की। इन्होंने धार्मिक कट्टरता, अंधविश्वास एवं कर्मकाण्डों का विरोध किया। इन सभी सन्त भक्तों की एक महत्वपूर्ण समान विशेषता यह थी कि उनकी शिक्षा पूर्णत: लोकभाषाओं में थी। उन्होंने अपनी साहित्यिक अभिव्यक्ति का माध्यम भी लोकभाषाओं को ही बनाया। क्रान्तिकारी समाज सुधारक एवं अग्रणी भक्त कवि कबीर दास ने कहा ''संस्कृत है कूप जल, भाषा बहता नीर।'' अर्थात संस्कृत कुओं के पानी के समान (सीमित) है तथा जनभाषा बहते हुए जल के समान (व्यापक) है। इसी तरह से महान भक्त कवि विद्यापति ने कहा—

''सक्कय पानी बहुअण भावइ, पाउअ रस को ममम्ण पावइ।
देसिल बयना सब जन मिटठा, ते तेसन जम्पेऊँ अवहट्ठा।''

अर्थात संस्कृत बहुतों को प्रसन्न नहीं कर सकती, प्राकृत नीरस है देशज भाषा सबों को मीठी लगती है। ये भक्त कवि जनसम्पर्क में विश्वास करते थे अत: इन्हें लोक भाषाओं का प्रयोग आवश्यक लगा। इनके प्रयासों के परिणामस्वरूप इन भाषाओं में उच्च स्तरीय साहित्य की रचना हुई। यह इस तथ्य को सिद्ध करता है कि लोकभाषायें न केवल जनसामान्य की सामाजिक-सांस्कृतिक आवश्यकताओं को पूरा करने में सक्षम थीं वरन गूढ़ आध्यात्मिक रहस्यों एवं सूक्ष्म दार्शनिक अवधारणाओं जैसे आत्मा, ब्रह्म मुक्ति की भी व्याख्या करने में सक्षम थीं। ये भाषायें जनसामान्य एवं उनके सामाजिक-सांस्कृतिक नेतृत्व के मध्य सदियों तक प्रभावशाली सम्पर्क सूत्र के रूप में कार्य करती रहीं।

विभिन्न लोकभाषाओं को बोलने वालों की संख्या एवं इनका भौगोलिक विस्तार इनकी क्षमता, प्रभाव एवं सम्भावनाओं को सरलता से सिद्ध करते हैं। ग्रियर्सन द्वारा दिये गये आंकड़ों से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है।

भाषा	बोलने वालों की संख्या	भौगोलिक विस्तार
मैथिली	10,000,000	
मगही	6,239,967	
भोजपुरी	20,000,000	
बिहारी[12]	36,239,967	90,000 वर्ग मील
अवधी	1,143,548	
बघेली	4,612,756	
छत्तीसगढ़ी	3,755,343	
पूर्वी हिन्दी[13]	9,511,647	1,87,500 मील
हिन्दुस्तानी	16,633,163	
बघेली (बंगारू)	2,165,784	
ब्रजभाषा	7,864,500	
कन्नौजी	4,481,500	
बुन्देली	6,869,201	
पश्चिमी हिन्दी[14]	38,013,922	2,00,000 वर्ग मील

लोकभाषाओं की उपयोगिता

ये लोकभाषाएं जनसामान्य की सभी सामाजिक-सांस्कृतिक आवश्यकताओं को पूरा करने में सक्षम थीं। ग्रामीण क्षेत्र की अधिकांश देशी पाठशालाओं में शिक्षा का माध्यम ये लोकभाषायें ही थीं। बिहार के वर्नाक्यूलर पाठशालाओं में शिक्षा हिन्दी में नहीं वरन बिहारी भाषाओं में दी जाती थी यद्यपि औपनिवेशिक शासकों एवं अंग्रेजी भाषा में शिक्षित भारतीयों ने हर सम्भव प्रयास किया कि विद्यालयों में संस्कृत प्रधान खड़ी बोली में ही शिक्षा दी जाये। ग्रियर्सन ने 1882 ई. में हण्टर आयोग के समक्ष अपने साक्ष्य में कहा थाख्र

''बिहार के सरकारी विद्यालयों में जिस हिन्दी भाषा का प्रयोग किया जाता है वह बिहारियों की भाषा नहीं है। देशी वर्नाक्यूलर पाठशालाओं में शिक्षा का माध्यम हिन्दी नहीं है वरन बिहारी है। इन देशी विद्यालयों में पाठ्य पुस्तकों द्वारा शिक्षा नहीं दी जाती है अत: सरकारी विद्यालयों की तरह शिक्षा देने हेतु हिन्दी का प्रयोग नहीं

किया जाता है।''

इन दो तरह की शिक्षा व्यवस्थाओं की अलग-अलग सामाजिक पृष्ठभूमि को स्पष्ट करते हुए ग्रियर्सन ने कहा—''दो तरह के बच्चे सामान्यत: प्राथमिक विद्यालय जाते थे, पहला—ग्रामीण क्षेत्र के निवासियों के लड़के जो देशी प्राथमिक पाठशाला पसन्द करते थे। इनमें छात्रों को मातृभाषा में शिक्षा दी जाती थी। दूसरा वर्ग अधिक महत्वाकांक्षी लड़कों का था जो तुलनात्मक रूप से पढ़ेलिखे वर्ग के बच्चे थे। ये सरकारी विद्यालय जाते थे—जहां शिक्षा का माध्यम मातृभाषा नहीं वरन हिन्दी थी।''[15]

18 अगस्त, 1881 का बिहार बन्धु इन दो तरह की भाषाओं का प्रयोग करने वालों की अलग-अलग सामाजिक पृष्ठभूमि की इसी तरह से विवेचना करता है। यह हमें बताता है कि सारस्वत, गौड़, शकद्वीपी एवं कन्नौजिया ब्राह्मण जो सीधे उत्पादन कार्य में लगे हैं एवं शारीरिक परिश्रम करते हैं, जनसामान्य की भाषा का प्रयोग करते हैं। क्षत्रियों एवं कायस्थों का वह वर्ग जो गांवों में रहता है लोकभाषाओं का प्रयोग करता है पर शहरों में रहने वाले क्षत्रिय एवं कायस्थ हिन्दी का प्रयोग करते हैं। बनिया का निम्न वर्ग जैसे कलवार, वर्णवार आदि एवं निम्न जातियां जैसे कहार, कुर्मी, धानुक, तेली, तम्बोली, हलवाई आदि भोजपुरी, मगही, मैथिली जैसी ग्रामीण भाषाओं का प्रयोग करते हैं।[16]

इस प्रकार हम पाते हैं कि उच्च वर्ग, जो किसी भी तरह का शारीरिक परिश्रम नहीं करता था, हिन्दी भाषा को पसन्द करता था पर किसान, मजदूर, शिल्पी, छोटे दुकानदार अपने सांस्कृतिक, सामाजिक एवं आर्थिक गतिविधियों हेतु लोकभाषाओं का ही प्रयोग करते थे।

अवध एवं उत्तरी-पश्चिमी प्रान्त लम्बे समय तक सीधे मुस्लिम शासकों के अधीन रहा अत: यह क्षेत्र पर्शियन संस्कृति से अपेक्षाकृत अधिक प्रभावित रहा। फलत: यह क्षेत्र हिन्दू एवं मुस्लिम संस्कृतियों के समन्वय का केन्द्र रहा। इस समन्वय का एक महत्वपूर्ण परिणाम था हिन्दुस्तानी भाषा का विकास। यह शहरी क्षेत्रों में रहने वाले हिन्दुओं एवं मुसलमानों दोनों के ही द्वारा सामान्यत: प्रयोग में लायी जाती थी। लेकिन अवध एवं उत्तरी-पश्चिमी प्रान्त की बहुसंख्यक जनता की भाषा अवधी एवं ब्रजभाषा ही थी तथा यहां की देशी प्राथमिक पाठशालाओं में इन लोक भाषाओं का प्रयोग बड़े स्तर पर किया जाता था। एस.एन. चतुर्वेदी[17], जिन्होंने स्वयं तीन तरह के देशी विद्यालयों में शिक्षा पायी थी, बताते हैं कि वर्णों या अक्षरों तथा मात्राओं को कविता की पंक्तियों के माध्यम से सिखाया जाता था जिन्हें बारहखड़ी या द्वादश अक्षरी कहा जाता था। ये कई तरह की होती थी। कुछ महापुरुषों की जीवनियों से सम्बन्धित थीं तो कुछ नैतिक शिक्षा से। यहां यह उल्लेखनीय है कि ये बारहखड़ी अवधी या ब्रजभाषा में थीं, हिन्दी में नहीं। उदाहरणार्थ—

द. दद्दा दोष नी दीजे काहू
दोस कर्म अपने ही।
ज. जज्जा जपे सोई गति पावे।
स. ससा साधु संग पावे जन कोई।

बुकनन[18] हमें बताते हैं कि उत्तरी-पश्चिमी प्रान्त के गोरखपुर क्षेत्र की ''हिन्दी'' पाठशालाओं के विद्यार्थी अल्प आयु से ही तुलसीदास, केशवदास, बिहारी आदि की कृतियों का सस्वर पाठ करते थे। यहां यह तथ्य उल्लेखनीय है कि इन कवियों की रचनायें या तो अवधी में हैं या ब्रजभाषा में। देशी पाठशालाओं में पढ़ाई जाने वाली किताबें जैसे सुदामा चरित, सुन्दर सुदामा, सुन्दर काण्ड, दधि लीला आदि पुस्तकें ब्रजभाषा, अवधी, मैथिली जैसी लोकभाषाओं में थी न कि खड़ी बोली या हिन्दुस्तानी में।

इस प्रकार हम पाते हैं कि ये लोकभाषायें बिहार एवं उत्तरी-पश्चिमी प्रान्त की बहुसंख्यक जनता की सामाजिक-सांस्कृतिक आवश्यकताओं को पूरा करने में समर्थ थीं। देशी वर्नाक्यूलर पाठशालाओं में यही भाषायें शिक्षा के माध्यम के रूप में उपयोग में लायी जाती रहीं, लेकिन औपनिवेशिक शासकों एवं अंग्रेजी पढ़े भारतीयों ने इन भाषाओं को ''अपरिष्कृत'', ''बर्बर'' एवं ''असभ्य जनों की भाषा'' कहते हुए इन भाषाओं को अपने नये सांस्कृतिक संसार को अभिव्यक्त करने में असमर्थ पाया।

यह नया मध्यम वर्ग मूलत: नये जमींदारों, जो नई भूमि व्यवस्था एवं नये राजस्व नियमों की उपज थे[19], तथा अंग्रेजी पढ़े भारतीयों का था, जो लगातार फैलते प्रशासनिक एवं न्यायिक कार्यालयों में काम करते थे या करने की इच्छा रखते थे। यह नया मध्यम वर्ग कई प्रभावशाली जातियों जैसे ब्राह्मण, राजपूत, कायस्थ, उच्च वर्गीय बनिया का मिश्रण था जो अपने परम्परागत सामाजिक परिवेश से कट चुका था। कई जातियों का समूह होने से परम्परागत ब्राह्मण संस्कृति इनकी सांस्कृतिक-सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा करने में समर्थ नहीं थी। यह वर्ग एक सांस्कृतिक-संकट का सामना कर रहा था। इस संकट को समाप्त करने के प्रयास में इन्होंने एक नई भाषा का विकास करने का प्रयास किया जिसका आधार दिल्ली क्षेत्र की खड़ी बोली को बनाया। इस भाषा को जटिल बनाने का प्रयास प्राचीन भाषाओं से बड़ी संख्या में शब्दों को आयातित करके किया गया।

हिन्दी का तत्समीकरण

इस तथाकथित शिष्ट भाषा हिन्दी का विकास इस गहरे विवाद के मध्य हुआ कि इसमें संस्कृत शब्दों का प्रयोग किया जाये या फारसी के शब्दों का। उच्च जाति के हिन्दुओं, मुख्यत: ब्राह्मणों ने संस्कृत शब्दों का बड़े स्तर पर प्रयोग प्रारम्भ किया तो दूसरे समूह ने, जिसमें मूलत: मुसलमान एवं कायस्थ थे, फारसी-अरबी स्रोतों से शब्दों को लेना प्रारम्भ किया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने एक निबन्ध ''हिन्दी भाषा''[20] (1883) में इस विवाद का उल्लेख करते हुए कहा कि दोनों समूह अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार हिन्दी लिख रहे हैं इस स्थिति में एक सामान्य, सर्व लोकप्रिय भाषा का विकास कठिन है।

तत्सम प्रधान हिन्दी के विकास एवं लोक भाषाओं की उपेक्षा में औपनिवेशिक सरकार एवं अंग्रेजी अफसरों की भूमिका को कम करके नहीं आंका जा सकता। सर इरसकीन पेरी[21] ने मैथिली को बंगला भाषा की एक बोली मात्र कहा जबकि नेपाल में ब्रिटिश रेसीडेन्ट बी.एच.हडसन[22] ने आधुनिक भारतीय भाषाओं के पक्ष में अपना तर्क तो रखा पर वे न केवल मैथिली, भोजपुरी एवं मगही का अस्तित्व भूल गये वरन उन्होंने उड़िया एवं असमिया को भी बंगला की ही उपभाषा मानते हुए कहा कि पूरे बंगाल, बिहार एवं उड़ीसा में

तीन भाषाएं ही हैं—बंगला, हिन्दी एवं हिन्दुस्तानी।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार आधुनिक हिन्दी गद्य में लेखन 1800 ई. में कलकत्ता में स्थापित फोर्ट विलियम कालेज के संरक्षण में प्रारम्भ हुआ।[23] इसकी स्थापना नौकरशाही के प्रशिक्षण हेतु की गयी थी। गिलक्राइस्ट के नेतृत्व में लल्लू लाल एवं सदल मिश्र ने आधुनिक हिन्दी गद्य की जड़ को जमाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। आचार्य द्विवेदी के अनुसार यह नव विकसित भाषा दिनोदिन शक्तिशाली होती गयी तथा उत्तर भारत के शिष्ट जनों ने इस ''संस्कृत मिश्रित भाषा'' को अपनाया।

प्रिन्टिंग की शुरुआत होने एवं सरकारी विद्यालयों में छपी पाठ्य-पुस्तकों के प्रचलन ने भी कई भाषाओं में तत्सम शब्दों को बढ़ावा दिया। स्थिति की गंभीरता को देखते हुए ग्रियर्सन कहते हैं ''जब हिन्दी का एक लेखक लिखने हेतु कलम उठाता है तो वह अपना होश गवां बैठता है और उस पर संस्कृत का नशा हावी हो जाता है।'' यूरोपीय मूल के भी कई लेखकों ने हिन्दी में संस्कृत के शब्दों के प्रयोग को बड़ी मात्रा में बढ़ावा दिया। इन लोगों ने हिन्दी को संस्कृत के माध्यम से सीखा था। अत: यह उनके लिए स्वाभाविक था कि वे बड़ी संख्या में संस्कृत के शब्दों का प्रयोग करें।[24]

भारतीय मध्यम वर्ग की ही तरह औपनिवेशिक शासन ने भी लोकभाषाओं को अपरिष्कृत एवं बर्बर माना, जिन्हें सरकारी एवं सरकारी सहायता प्राप्त विद्यालयों में प्रयोग में नहीं लाया जा सकता था। अंग्रेज सरकार ने हमेशा इस धारणा पर बल दिया कि अंग्रेजी पढ़े लोग, जिन्हें संस्कृत भाषा पर भी अधिकार है, विद्यालयों हेतु उच्च स्तरीय साहित्य का निर्माण कर पायेंगे। सरकारी अभिलेखों में इस तरह के अनेक उद्धरण भरे पड़े हैं—

''वे व्यक्ति जो संस्कृत एवं अंग्रेजी दोनों ही भाषाओं में दक्ष हैं वही हिन्दी में सुन्दर रचना कर सकते हैं एवं हिन्दी में प्रभावशाली ढंग से पढ़ा सकते हैं।''[25]

इसी भावना की ओर अधिक स्पष्ट शब्दों में पूना संस्कृत कालेज के अधीक्षक कैप्टन कैंडी ने 1840 में रखा:

''ज्ञान के अंग्रेजी भाषा के विशाल भंडार से लेकर आधुनिक भाषा के माध्यम से छात्रों तक पहुंचाना चाहिए लेकिन इन आधुनिक भारतीय भाषाओं को इस कार्य के योग्य बनाने हेतु संस्कृत का अवश्य ही प्रयोग किया जाना चाहिए।''[26]

सरकार ने इस नीति का कड़ाई से पालन किया। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि केवल उच्च जातियों के लोगों, विशेषत: ब्राह्मणों को ही संस्कृत का ज्ञान प्राप्त करने का अवसर मिल पाता था। अत: अंग्रेजी पढ़े लोगों ने जो ब्राह्मण परम्परा से प्रभावित थे, ऐसी हिन्दी लिखना प्रारम्भ किया, जिसमें संस्कृत शब्दों का बाहुल्य था।

एक अन्य कारक, जिसने हिन्दी भाषा के तत्समीकरण को बढ़ावा दिया, वह बंगाल का प्रभाव था। बिहार के उभरते मध्यम वर्ग को बंगाली-भद्रलोक के उदाहरण से बड़ा बल मिला जिन्होंने तीन चार दशक पूर्व ''लौकिक भाषा'' की जगह ''साधु भाषा'' का विकास किया, जिसमें संस्कृत शब्दों की भरमार थी।[27] जैसा कि हम देख चुके हैं आधुनिक हिन्दी गद्य की रचना का प्रारम्भ कलकत्ता स्थित फोर्ट विलियम कालेज में हुआ। यहां के हिन्दी लेखकों पर बंगला भाषा में आ रहे परिवर्तन का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था।

कलकत्ता स्कूल बुक सोसाइटी, ने भी जिसकी स्थापना 1817 ई. में हुई थी, तत्सम प्रधान खड़ी बोली के प्रचार में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। इसने बंगाल प्रेसीडेन्सी की अनेक भाषाओं में पुस्तकों का प्रकाशन किया। 1817-1835 के मध्य 23, 750 हिन्दी पुस्तकों का प्रकाशन किया। उनमें से 19,087 पुस्तकों को वितरित किया गया। 1835 से 1854 के मध्य स्कूल बुक सोसाइटी ने 65,100 पुस्तकों का हिन्दी में प्रकाशन किया, जिनमें से 47 हजार से भी अधिक पुस्तकों का वितरण किया गया।[28] सन् 1851-52 तक बहुत हद तक उत्तरी-पश्चिमी प्रान्त भी सोसाइटी द्वारा प्रकाशित पाठ्यपुस्तकों पर ही निर्भर करता था। इस प्रकार कलकत्ता स्कूल बुक सोसाइटी ने हिन्दी भाषा में पाठ्य-पुस्तकों की रचना का स्वरूप निर्धारित किया।

हिन्दी के प्रथम दो साप्ताहिक पत्रों **उदन्त मार्तंड** (1824) एवं **बंगदूत** (1826) का प्रकाशन कलकत्ता से ही प्रारम्भ हुआ इसके उपरान्त हिन्दी के कई प्रमुख पत्रों जैसे **प्रजा मित्र, सुधा वर्षण, भारत मित्र, सार सुधा निधि, उचित वक्ता** आदि का भी प्रकाशन कलकत्ता से ही हुआ था। इन पत्रिकाओं ने भी नागरी लिपि को लोकप्रिय बनाने एवं तत्सम प्रधान हिन्दी के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

19वीं शताब्दी में औपनिवेशिक प्रशासन के उत्तर भारत में विस्तार के कारण बंगालियों की एक अच्छी खासी संख्या बंगाल के बाहर निवास करने लगी। यह बंगाली समुदाय उत्तर भारत में हिन्दी को विद्यालयों एवं न्यायालयों की भाषा बनवाने हेतु सर्वाधिक मुखर एवं प्रभावशाली समर्थक के रूप में उभरकर सामने आया। बिहार के विद्यालयों एवं कचहरियों में हिन्दी भाषा को लागू कराने का श्रेय बाबू भूदेव मुखोपाध्याय, स्कूल इंस्पेक्टर, बिहार सर्किल, को जाता है। इन्होंने हिन्दी में पाठ्य पुस्तक की रचना को अभियान का स्वरूप प्रदान किया।[29]

इस प्रकार हम पाते हैं कि औपनिवेशिक नीतियों, नवीन मध्यवर्ग की सामाजिक-सांस्कृतिक पहचान एवं तत्सम प्रधान हिन्दी में परस्पर सीधा सम्बन्ध था और वे एक दूसरे को लगातार बल प्रदान करते रहे।

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इस मुखर वर्ग ने विद्यालयों एवं न्यायालयों में संस्कृत प्रधान हिन्दी को अपनाये जाने हेतु आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। 1872 ई. में पं. केशवराम भट्ट के सम्पादकत्व में बिहार बन्धु की स्थापना इस दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम था। मध्यम वर्ग के लिए बिहार बन्धु एक ऐसे औजार के रूप में सामने आया जिसके द्वारा वे सरकार पर हिन्दी भाषा के पक्ष में लगातार दबाव बना सकते थे।

इस वर्ग को पहली महत्वपूर्ण विजय 1871 में मिली जब 4 दिसम्बर 1871 को जार्ज कैम्पबेल ने हिन्दी को बिहार के सरकारी एवं सरकारी सहायता प्राप्त विद्यालयों में शिक्षा का माध्यम बनाने की घोषणा करते हुए इन विद्यालयों में बिहारी भाषाओं एवं उर्दू के प्रयोग को प्रतिबन्धित कर दिया। देशी पाठशालाओं में स्थानीय भाषाओं के प्रयोग एवं शिक्षा के व्यावसायिक स्वरूप ने दलित वर्ग—जैसे कहार, कुर्मी, कोइरी नापित, तेली, माहुरी आदि—के बच्चों को भी बड़ी संख्या में अपनी ओर आकर्षित किया था, लेकिन इस नई भाषा का उनके सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं था। निसन्देह इस तथ्य ने इन बच्चों को विद्यालय आने से हतोत्साहित करने में

महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

बिहार एवं उत्तरी पश्चिमी प्रान्त की देशी पाठशालाओं में पाठ्य-पुस्तकों का प्रयोग नहीं के बराबर किया जाता था। विलियम एडम ने अपने तृतीय प्रतिवेदन (1838) में तिरहुत एवं दक्षिणी बिहार के 365 देशी पाठशालाओं में से केवल 13 पाठशालाओं में ही किसी भी तरह की पुस्तक के प्रयोग का उल्लेख किया है। पर औपनिवेशिक शिक्षा व्यवस्था में सरकार द्वारा निर्देशित पाठ्य पुस्तकों का प्रयोग अनिवार्य हो गया। ये पुस्तकें लोकभाषा में न होकर खड़ी बोली में थीं जिससे बिहार के जनसामान्य को कोई सरोकार नहीं था। बाबू भूदेव मुखोपाध्याय एवं दरभंगा महाराजा ने हिन्दी में पाठ्य-पुस्तकों की रचना में गहरी रुचि दिखायी और लेखकों को प्रोत्साहित करने का हर सम्भव प्रयास किया।

विद्यालयों में तत्सम प्रधान हिन्दी के प्रयोग किये जाने से किसानों, शिल्पकारों व मजदूरों के बच्चे, जो केवल क्षेत्रीय भाषा का प्रयोग करते थे, विद्यालय जाने में हिचक का अनुभव करने लगे। इन विद्यालयों में प्रयोग किये जाने वाले पाठ्य-पुस्तकों का दलित वर्ग के सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक जीवन से शायद ही कोई सम्बन्ध था। नई भाषा से ग्रामीण सर्वथा अपरिचित थे। भारतीय शिक्षा आयोग (1882-83) के समक्ष कई लोगों ने उच्च स्तरीय (तत्सम प्रधान) हिन्दी एवं इनमें लिखी पाठ्य पुस्तकों का बिहार के विद्यालयों में प्रयोग किये जाने का विरोध किया। आयोग ने स्वीकार किया कि ''बिहार के विद्यालयों में जिस हिन्दी का प्रयोग किया जाता है उसे तो विद्यार्थी बिल्कुल ही नहीं समझ पाते। अध्यापक भी बहुत हद तक समझ पाने में असमर्थ हैं।[30]

मातृभाषा में शिक्षा देने का प्रश्न 1939 ई. में भी नहीं सुलझ सका जब बिहार में कांग्रेस का शासन था। इस वर्ष ''प्रान्तीय शिक्षा पुनर्गठन समिति'' का गठन किया गया जिसे बिहार के विद्यालयों में शिक्षा के माध्यम के प्रश्न पर सुझाव देना था। इस समिति के एक सदस्य प्रो. ए.एन. झा ने मैथिली को मिथिला क्षेत्र के विद्यालयों में माध्यम के रूप में स्वीकार किये जाने की जोरदार वकालत की, पर अन्य दो सदस्यों बाबू राजेन्द्र प्रसाद एवं सच्चिदानन्द सिन्हा ने इस प्रस्ताव का इस आधार पर विरोध किया कि अगर मैथिली के दावे को स्वीकार कर लिया जाता है तो मगही एवं भोजपुरी को भी माध्यम के रूप में स्वीकार करना होगा। यहां पर ध्यान देने योग्य तथ्य है कि इस समिति ने बंगला को, जिसके बोलने वालों की संख्या बिहार में कुछ ही लाख थी, शिक्षा के माध्यम के रूप में प्रयोग किये जाने की स्वीकृति प्रदान कर दी पर मैथिली, भोजपुरी जैसी भाषाओं, जिसने करोड़ों बिहारियों को वाणी प्रदान की थी, को यह स्वीकृति नहीं दी गयी।[31]

छोटा नागपुर एंव संथाल परगना के आदिवासियों को भी जिनकी अपनी संस्कृति एवं भाषायें थीं, सर्वथा अपरिचित भाषाओं जैसे हिन्दी, उर्दू या बंगला के माध्यम से ही शिक्षा प्रदान करने के लिए बाध्य किया गया। आदिवासी क्षेत्रों के विद्यालयों में किस भाषा का प्रयोग किया जाये इस सन्दर्भ में औपनिवेशिक सरकार कोई स्पष्ट व्यवस्थित नीति का विकास करने में असफल रही। अंग्रेज प्रशासक जे.एन. क्राउनफोर्ड ने 30 सितम्बर, 1850 को छोटा नागपुर गवर्नमेंट स्कूल का निरीक्षण करने के उपरान्त कहा ''कोल बच्चों के लिए नागरी (हिन्दी) उतनी ही विदेशी भाषा है जितनी की अंग्रेजी।'' आश्चर्य की बात यह है कि उन्होंने यहां के विद्यालयों में बच्चों की मातृभाषा का प्रयोग किये जाने की बजाय बंगला के प्रयोग का प्रस्ताव रखा।[32] स्कूल इंस्पेक्टर एच.एल. हेरीसन ने निर्दोष आदिवासी बच्चों पर हिन्दी को लादने के प्रयास को सही ठहराने हेतु तर्क दिया कि छोटा नागपुर के दो महत्वपूर्ण आदिवासी समूह मुण्डा एवं उराव की अपनी अलग-अलग भाषाएं हैं अत: यहां के सारे विद्यालयों में हिन्दी को ही शिक्षा का माध्यम बनाये जाने के अतिरिक्त कोई और विकल्प नहीं है।[33] ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक ही था कि आदिवासी बच्चों ने सरकारी विद्यालयों में गहरी अरुचि दिखायी।

उत्तरी-पश्चिमी प्रान्त में हिन्दी का यह नवीन रूप अधिक लोकप्रिय हो सका क्योंकि दिल्ली का क्षेत्र, जहां से खड़ी बोली को आयातित किया गया है इस क्षेत्र से भौगोलिक एवं राजनीतिक रूप से अधिक समीप था। दूसरा, बनारस ब्राह्मण संस्कृति एवं शिक्षा का केन्द्र बनकर उभरा। तीसरा, रामशरण दास द्वारा लिखित चार पाठ्य-पुस्तकों का समूह, जिनमें दो देशी पाठशालाओं के विषयों से सम्बन्धित थे, सरल हिन्दी में था जिससे ये पाठ्य-पुस्तकें काफी लोकप्रिय हुई। लेकिन बाद के लेखकों ने संस्कृत के शब्दों का बड़े स्तर पर प्रयोग प्रारम्भ कर दिया तथा हिन्दी भाषा को सामान्य जन की समझ से परे कर दिया।

कैथी लिपि का विनाश

औपनिवेशिक सरकार ने कैथी लिपि के प्रति भी, जो कि लगभग सम्पूर्ण उत्तर भारत में लोकप्रिय थी, अत्यन्त शत्रुतापूर्ण नीति अपनाई। बिहार एवं उत्तरी पश्चिमी प्रान्त में तो यह काफी लोकप्रिय थी ही पर इसका प्रयोग यहीं तक सीमित नहीं था। ग्रियर्सन का कहना है कि ''सम्पूर्ण उत्तर भारत में—गुजरात की खाड़ी से लेकर कोसी नदी तक—यह लिपि सामान्य प्रयोग में आती है।''[34] मगही, भोजपुरी, अवधी एवं ब्रजभाषा लिखने हेतु जनसामान्य कैथी लिपि का ही प्रयोग करता था जबकि संस्कृत का ज्ञान रखने वाले लोग देवनागरी का प्रयोग करते थे। तत्सम प्रधान हिन्दी एवं देवनागरी के कट्टर समर्थक बिहार बन्धु भी यह स्वीकार करता है कि—

''कैथी हर्फ हर एक जमींदार की कचहरी में इस्तेमाल होते हैं। हर एक देहात के स्कूलों में सिखाये जाते हैं। आले दर्जे के मुसलमानों को छोड़कर सिर्फ देहात के लोग ही नहीं बल्कि बिहार के कुल आदमी कैथी में ही खत खतूत लिखते हैं चाहे यह मामूली हो या कार वो बार के।''[35]

बिहार के मिथिला क्षेत्र में देवनागरी एवं कैथी के अतिरिक्त तिरहुती लिपि का भी प्रयोग किया जाता था जो कि देखने में बंगला लिपि की ही तरह थी पर जिसका उच्चारण बंगला से अलग था।[36]

उत्तरी-पश्चिमी प्रान्त में कैथी की लोकप्रियता का प्रमाण स्वयं एच.एम. रीड देते हैं जो कि इस लिपि के कटु आलोचक थे। रीड अपने प्रतिवेदन में कहते हैं ''आगरा, अलीगढ़ एवं मथुरा जिलों के अपवाद को छोड़ अन्य सभी जिलों में कैथी एवं महाजनी पाठशालाओं की संख्या नागरी लिपि के प्रयोग करने वाली पाठशालाओं से अधिक है।''[37] यह तथ्य रीड द्वारा प्रस्तुत निम्नलिखित आकड़ों से स्पष्ट है—

जिला	नागरी पाठशाला	कैथी पाठशाला	महाजनी पाठशाला
आगरा	85	8	83
अलीगढ़	28	0	0
बरेली	16	81	18
इटावा	41	99	23
फर्रुखाबाद	10	103	7
मैनपुरी	40	35	12
मथुरा	149	0	37
शाहजहांपुर	46	160	0
कुल	697	486	180

रीड ने पाठशालाओं एवं प्रशासन में कैथी लिपि के प्रयोग का जोरदार विरोध करते हुए इसे देवनागरी लिपि का विकृत रूप कहा तथा लेफ्टिनेन्ट गवर्नर से अनुरोध किया कि वे पटवारियों को स्पष्ट निर्देश दें कि वे अपना वार्षिक प्रतिवेदन, अगर हिन्दी में हो तो, देवनागरी लिपि में ही दें जिससे सरलता से विद्यालयों में देवनागरी लिपि को लोकप्रिय बनाया जा सके।[38]

ग्रियर्सन कैथी को हिन्दी का विकृत रूप नहीं मानते थे। उन्होंने अपनी किताब कैथी हैण्डबुक में लिखा—''जिस तरह अंग्रेजी में छापे के हर्फ अलग होते हैं और लिखने के अलग उसी तरह यहां भी छापे के हर्फ देवनागरी हैं और रोजमर्रे की कार्रवाई के लिए कैथी हर्फ मुकर्रर किये गये हैं।''[39]

पर इसका स्वतंत्र अस्तित्व उन्होंने इसी आधार पर सिद्ध किया है कि ''कैथी दो भौगोलिक रूप से काफी दूर के प्रान्तों—बिहार एवं गुजरात—में प्रशासन की लिपि है और तिरहुत के पटवारी को गुजराती लिपि में छपी पुस्तक पढ़ने में कोई कठिनाई नहीं होती है।''[40]

कैथी की लोकप्रियता को समाप्त करने एवं नागरी को कैथी की जगह दिलाने हेतु सरकार ने कई महत्वपूर्ण कदम उठाये। प्रथम, उत्तरी-पश्चिमी प्रान्त में राजस्व सदर बोर्ड ने अपनी 10 अगस्त, 1852 की आज्ञा संख्या 4 के द्वारा सरकारी प्रशासकों, विशेषत: पटवारियों को स्पष्ट निर्देश दिया कि गांवों के भूमि एवं लगान सम्बन्धी प्रपत्र अगर हिन्दी में हो तो वह कैथी लिपि में न होकर नागरी लिपि में होना चाहिए। 1858-59 के उत्तरी-पश्चिमी प्रान्त के शिक्षा सम्बन्धी प्रतिवेदन में कहा गया ''जब तक ये प्रपत्र कैथी लिपि में होंगे तब तक स्कूल के मास्टरों के पास नागरी लिपि की पुस्तकों की जगह कैथी लिपि में ही देशी ज्ञान देने का बहाना रहेगा।''[41] बिहार में भी शिक्षा से जुड़े प्रशासक लगातार इसी तरह के तर्क दे रहे थे। शिक्षा विभाग के इन तर्कों से बंगाल के लेफ्टिनेन्ट गवर्नर ने भी सहमति जताई तथा उन्होंने 1860 ई. में आज्ञा दी कि ''भविष्य में सारे सरकारी अभिलेख देवनागरी लिपि में ही तैयार किये जायें।''[42]

दूसरा, सरकार ने यह निश्चय किया कि विद्यालय हेतु पाठ्य-पुस्तक एवं अन्य विज्ञापन, आदेश आदि, अगर हिन्दी में हों तो, उसका मुद्रण देवनागरी लिपि में ही किया जाये। पर बिहार में कैथी की लोकप्रियता को देखते हुए कलकत्ता गजट ने 1860 के अपने एक अंक में कई पृष्ठ कैथी लिपि में प्रकाशित किये। बिहार के स्कूल इंस्पेक्टर हेरीसन ने इस कदम की कड़ी आलोचना करते हुए शिक्षा निदेशक को लिखा ''अगर नागरी लिपि को इसी तरह से हतोत्साहित किया गया तो कैथी को विद्यालयों से निकालना कठिन होगा।''43

तीसरा, औपनिवेशिक सरकार ने सरकारी विद्यालयों के अध्यापकों के लिए कैथी की जगह देवनागरी लिपि का प्रयोग अनिवार्य कर दिया। अवध के स्कूल इंस्पेक्टर ने विद्यालयों में केवल नागरी एवं उर्दू के ही अध्ययन की व्यवस्था रहने दी पर यह स्वीकार किया कि ''बड़ी संख्या में अभिभावक अपने बच्चों को कैथी लिपि में शिक्षा देना चाहते हैं।''[44]

बिहार में 1871 से सरकार का प्रयास हिन्दी भाषा में शिक्षा देने का रहा। प्रारम्भ में हिन्दी को लोकप्रिय बनाने हेतु शिक्षा में कैथी का ही प्रयोग होता और इसी में पाठ्य-पुस्तकें भी छापी गयीं। पर एक बार जब हिन्दी को लोगों ने स्वीकारना प्रारम्भ कर दिया तो कैथी को हटाकर उसकी जगह पर नागरी को स्थापित करने का प्रयत्न प्रारम्भ हो गया। साथ ही देशी विद्यालयों के अध्यापकों को भी कैथी लिपि की बजाय नागरी लिपि में शिक्षा देने हेतु अनेक प्रलोभन दिये गये।

कैथी को हटाकर नागरी लिपि को विद्यालयों एवं सरकारी कार्यालयों में प्रवेश दिलाने में नवीन मध्यम वर्ग, विशेषत: ब्राह्मण संस्कृति से प्रभावित लोगों ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। इस वर्ग के मन में देवनागरी लिपि के प्रति श्रद्धा थी क्योंकि यह लिपि ''देवभाषा'' संस्कृत को लिखने के काम में आती थी। देवनागरी लिपि की वकालत बनारस के हिन्दी विद्वानों द्वारा लगातार की जाती रही जिसका बिहार के शिक्षित वर्ग ने भी स्वागत किया।

अंग्रेजी शिक्षा प्रान्त भारतीयों एवं औपनिवेशिक शासकों दोनों के विरोध के बावजूद कैथी की लोकप्रियता एवं उपयोगिता के कारण वर्तमान शताब्दी के मध्य तक भी इसके अस्तित्व को पूर्णत: समाप्त नहीं किया जा सका और यह देशी शिक्षा केन्द्रों, कचहरियों एवं कार्यालयों में बनी रही। पर स्वतंत्र भारत की बिहार सरकार ने 1949 ई. में एक राज्याज्ञा द्वारा राजस्व विभाग में कैथी के प्रयोग को पूर्णत: प्रतिबन्धित कर दिया। 1949 अन्तिम वर्ष था जब राजस्व विभाग के अधिकारी पद के आवेदकों को कैथी भाषा में प्रतियोगिता परीक्षा लिखने की अनुमति दी गयी।[45] इस प्रकार शिक्षित मध्यम वर्ग एवं औपनिवेशिक शासकों की लगातार शत्रुतापूर्ण नीति ने जन सामान्य की लोकप्रिय लिपि को इतिहास की वस्तु बनाने में सफलता पायी।

उपरोक्त विवेचना से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि औपनिवेशिक सरकार की आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक नीतियों ने 19वीं शताब्दी में भारत में, एक नये मध्यम वर्ग के विकास हेतु आवश्यक परिस्थितियों का निर्माण किया। इस नये वर्ग ने प्रचलित सामाजिक-सांस्कृतिक संस्थाओं, भाषाओं एवं लिपियों को अपनी नयी संस्कृति के अनुरूप नहीं पाया। अपनी नयी सांस्कृतिक अस्मिता की खोज में इन्होंने लोक भाषाओं को त्याग कर एक ऐसी तत्सम प्रधान हिन्दी का विकास किया जिसमें संस्कृत के शब्दों का बड़े स्तर पर प्रयोग किया गया था। यही ''शिष्ट भाषा'' विद्यालयों एवं सरकारी कार्यालयों में स्वीकार की गयी। यह भाषा जन सामान्य की भाषा से भिन्न थी, फलत: दलित वर्ग के बच्चों ने संस्कृत प्रधान हिन्दी में दी जाने वाली शिक्षा से अरुचि दिखाई।

सन्दर्भ सूची

1. चटर्जी, एस.के. (1960), ''लैंग्वेज एण्ड लिटरेचर'' मजूमदार, आर.सी., दी हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ इण्डियन पीपुल, खण्ड 4, भारतीय

(शेष पृष्ठ 42 पर)

'सोवियत संघ में समाजवाद की आर्थिक समस्याएं' के बारे में

• माओ त्से-तुङ

माओ की यह टिप्पणी स्तालिन की महत्वपूर्ण रचना* सोवियत संघ में समाजवाद की आर्थिक समस्याएं *का अध्ययन करने के लिए एक जरूरी दिशानिर्देश है जो उन्होंने चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की प्रान्तीय तथा प्रादेशिक समितियों को दिया था। समाजवादी संक्रमण की लम्बी ऐतिहासिक अवधि में संक्रमण की अन्तर्वस्तु और प्रकृति क्या होती है, इसके वस्तुगत नियम क्या होते हैं और मनोगत उपादानों के रूप में सर्वहारा वर्ग की पार्टी, राज्य, विचारधारा और अन्य अधिरचनात्मक तत्वों की भूमिका क्या होती है, इनके बारे में माओ ने कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण सूत्रों की ओर इंगित किया है। समाजवादी निर्माण के प्रति स्तालिन की पहुंच और पद्धति के बारे में माओ की आलोचनाओं के सूत्र भी इस टिप्पणी में समाहित हैं। □सम्पादक

प्रान्तीय तथा प्रादेशिक समितियों के लिए आवश्यक है कि वे इस पुस्तक को पढ़ें। पहले हरेक इसे पढ़ता तो था पर इतनी गहराई से नहीं कि उसके मन-मस्तिष्क पर कोई गहरी छाप पड़े। दूसरी बात, अध्ययन चीन की वास्तविक परिस्थितियों को भरपूर ध्यान में रखते हुए किया जाना चाहिए। पहले तीन अध्यायों में ऐसा बहुत-कुछ है, जो ध्यान देने योग्य है, जिसमें बहुत कुछ सही है, हालांकि उसमें ऐसे भी स्थान है जिन्हें स्वयं स्तालिन ने पर्याप्त रूप से स्पष्ट नहीं किया है। उदाहरण के लिए अध्याय- एक में वस्तुनिष्ठ नियमों के बारे में और इस बारे में वह सिर्फ चंद बातें कहते हैं कि अर्थव्यवस्था का नियोजन किस ढंग से किया जाना चाहिए। और वह अपने विचारों का खुलासा नहीं करते। या यह भी हो सकता है कि उनके ख्याल से अर्थव्यवस्था का सोवियत नियोजन वस्तुगत निर्देशनकारी नियमों को पहले ही प्रतिबिम्बित कर चुका है। भारी उद्योग, हल्के उद्योग तथा कृषि के विषय में सोवियत संघ ने दूसरे दो पर, हल्के उद्योग तथा कृषि पर पर्याप्त जोर नहीं दिया और उसके फलस्वरूप हानि उठानी पड़ी। इसके अतिरिक्त सोवियत संघ ने जनता के तात्कालिक और दीर्घकालिक हितों के संयोजन का काम ठीक ढंग से नहीं निभाया। असल में वे केवल एक टांग के सहारे चलते रहे। नियोजन की तुलना करने पर यह पूछा जा सकता है कि हममें से आखिर किसके पास ज्यादा अच्छे ढंग से ढाला गया ''नियोजित और सन्तुलित विकास कार्यक्रम'' था? एक और तकनीकी मुद्दा : स्तालिन ने केवल तकनोलाजी पर जोर दिया। वह बस तकनोलाजी, सिर्फ कर्मी चाहते थे, और कुछ नहीं। राजनीति नहीं, जनसाधारण नहीं। यह भी एक ही टांग के सहारे चलने की बात है! और वह उस वक्त भी एक ही टांग के सहारे चलते हैं, जब वे हल्के उद्योग पर नहीं और केवल भारी उद्योग पर ध्यान देते हैं। इसके अलावा उन्होंने भारी उद्योग की शाखाओं के आपसी सम्बन्धों में अन्तरविरोधों के मुख्य पहलुओं की ओर भी इशारा नहीं किया। उन्होंने यह दावा करते हुए कि इस्पात आधारशिला, मशीनरी हृदय तथा आत्मा है, भारी उद्योग के महत्व को बढ़ा-चढ़ा कर आसमान में पहुंचा दिया। हमारी अवस्थिति यह है कि अनाज कृषि का, इस्पात उद्योग का आधारस्तम्भ है और अगर इस्पात को आधार-स्तम्भ मान लिया जाता है तो जैसे ही हमारे पास माल होगा मशीन-उद्योग पीछे-पीछे चल पड़ेगा। स्तालिन ने अध्याय एक में सवाल उठाये थे : उन्होंने वस्तुनिष्ठ रूप निर्देशनकारी सिद्धान्त पेश किया था, लेकिन वह सन्तोषजनक उत्तर मुहैया करने में चूक गये।

अध्याय दो में वह माल के और अध्याय तीन में मूल्य के विषय का विवेचन करते हैं। अपेक्षाकृत ढंग से बात की जाये तो मैं व्यक्त किये गये (स्तालिन द्वारा-अनु.) बहुत से विचारों के पक्ष में हूं। उत्पादन को दो बड़ी शाखाओं में विभाजित करना और यह कहना कि उत्पादन के माध्यम माल नहीं हैं—ये मुद्दे अध्ययनयोग्य हैं। चीन की कृषि में अब भी उत्पादन के बहुत-सारे माध्यम हैं, जिन्हें माल माना जाना चाहिए। मेरा विचार यह है कि तीन संलग्न पत्रों में (साथी अ.व. सानिना तथा व.ग. वेझेर को उत्तर, जो 'सोवियत संघ में समाजवाद की आर्थिक समस्याएं' में कृति में शामिल किये गये हैं।) आखिरी पत्र सरासर गलत है। वह गहन बेचैनी, यह विश्वास प्रकट करता है कि किसान समुदाय पर यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि वे खेती की मशीनों को छोड़ देंगे, वे तो उनसे चिपके रहेंगे। एक ओर, स्तालिन कहते हैं कि उत्पादन के साधनों का स्वामी राज्य है। दूसरी ओर, वह कहते हैं कि वे (उत्पादन के साधन) किसानों की हैसियत के बाहर हैं। सच तो यह है कि वह (स्तालिन) अपने को धोखा दे रहे हैं। राज्य ने किसानों का कसकर, बिना किसी लचीलेपन के, अपने नियंत्रण में रखा। दो संक्रमणों के लिए स्तालिन समुचित तरीके और साधन ढूंढ़ने में असफल रहे, यह उनके लिए परेशान करने वाला प्रश्न था।

पूंजीवाद अपने पीछे माल-रूपी वस्तु छोड़ जाता है, जिसे हमें कुछ समय तक बरकरार रखना होगा। मूल्य को संचालित करने वाले माल-विनिमय के नियम हमारे उत्पादन-कार्य में कोई विनियामक भूमिका अदा नहीं करते। यह भूमिका अदा होती है नियोजन के द्वारा नियोजन के अन्तर्गत आगे की ओर लम्बी छलांग और राजनीति को शिखर स्थान में रखने के द्वारा, स्तालिन केवल उत्पादन सम्बन्धों की बात करते हैं, अधिरचना की नहीं, अधिरचना तथा आर्थिक आधार के बीच सम्बन्ध की नहीं। चीनी कर्मीवृंद उत्पादन में भाग लेते हैं, मजदूर प्रबन्धन में भाग लेते हैं। पुराने नियमों और विनियमों को तिलांजलि

देते हुए कर्मीवृंद को सही सांचे में ढालने के लिए निचले स्तरों की ओर भेजना—ये सब अधिसंरचना से, विचारधारा से सरोकार रखते हैं। स्तालिन केवल अर्थशास्त्र की चर्चा करते हैं, राजनीति की नहीं। वह निस्स्वार्थ श्रम की बात कर सकते हैं, लेकिन सच्चाई यह है कि एक घंटे का अतिरिक्त श्रम भी मन मारकर किया जाता है। निस्स्वार्थ भावना बिल्कुल नहीं होती। जनता की भूमिका, मजदूर की भूमिका—इनकी कोई चर्चा ही नहीं की गयी है। यदि कम्युनिस्ट आंदोलन न हो, तो कम्युनिज्म में संक्रमण की कल्पना करना भी कठिन है। ''सब लोग मेरे लिए हैं, मैं सब लोगों के लिए हूं।'' यह किसी के हिस्से नहीं आता और हर चीज के ''स्व'' से जुड़ने के साथ खत्म हो जाता है। कुछ का कहना है कि यह मार्क्स ने कहा था। अगर ऐसा उन्होंने कहा था, तो आइये, हम इसे प्रचार की वस्तु न बनायें। ''सब लोग मेरे लिए'' का अर्थ यह है कि हर कोई मेरे लिए है, व्यक्ति के लिए है। ''मैं सबके लिए हूं।'' तो यह बताइये आप एक साथ कितने के लिए हो सकते हैं?

बुर्जुआ अधिकार, बुर्जुआ कानून और नियम और शिक्षा के रूप में अभिव्यक्ति पाता है। हम बुर्जुआ अधिकार की विचारधारा के अंश को, शाही-सामन्ती अंदाज को, तीन शैलियों (नौकरशाहाना, संकीर्णतावाद और मनोगतवाद) को और पांच तेवरों (दफ्तरशाही, अंहकारमय, उदासीनतापूर्ण, असंयतता और तुनुकमिजाजी) को नष्ट करना चाहते हैं। परन्तु दूसरी ओर, माल-संचलन, माल-रूप, मूल्य के नियम को इस तथ्य के बावजूद चुटकी बजाते ही नेस्तनाबूद नहीं किया जा सकता कि वे बुर्जुआ प्रवर्ग हैं। अगर हम इस समय बुर्जुआ अधिकार की विचारधारा का आमूलचूल उन्मूलन करने का प्रचार करते जायें, तो ध्यान रहे, यह विवेकसम्मत नहीं होगा।

'समाजवादी समाज में चंद लोग जमींदार, धनी किसान, दक्षिणपंथी —ऐसे हैं जो पूंजीवाद के पक्षधर हैं और उसकी वकालत करते हैं परन्तु विशाल बहुसंख्या कम्युनिज्म की ओर आने की सोच रही है। पर यह काम कदम-ब-कदम होना चाहिए। आप एक कदम उठाकर सातवें आसमान पर नहीं पहुंच सकते। जन-कम्यूनों को ही ले लें, एक ओर उन्हें आत्म-निर्भर उत्पादन का और दूसरी ओर माल-विनिमय का विकास करना है। हम माल-विनिमय और मूल्य के नियम का ऐसे औजारों के रूप में उपयोग करते हैं, जो उत्पादन विकसित करने और संक्रमण का पथ सुगम बनाने के हितार्थ हो। हमारा राष्ट्र ऐसा है, जिसमें माल-उत्पादन अत्यन्त अल्पविकसित है। पिछले साल हमने 3.7 ट्रिलियन कैटीज अनाज पैदा किया था। उसमें पण्यजनित अनाज का भाग लगभग 80 या 90 अरब कैटीज था। इसके अलावा कपास और सन जैसे औद्योगिक फसलों का उत्पादन भी अल्पविकसित है, इसलिए हमारे पास विकास की इस मंजिल (माल) का होना आवश्यक है। इस समय भी ऐसे बहुत-सारे अंचल हैं, जहां भोजन, खाद्य-वस्तुओं के लिए कोई दाम नहीं लिया जाता, लेकिन वे उजरत का भुगतान नहीं कर पाते। होपेई में ऐसे तीन अंचल हैं और एक ऐसा है, जो उजरत का भुगतान तो कर सकता है, लेकिन उसकी राशि ज्यादा नहीं है, बस तीन या पांच युआन। इसलिए हमें अब भी उत्पादन का विकास करना है, ऐसी चीजों का विकास करना है, जिन्हें अनाज को छोड़कर बेचा जा सकता है। सिआन कृषि-सम्मेलन में इस मुद्दे पर अपर्याप्त रूप से विचार किया गया था। कुल मिलाकर, हम एक ऐसा राष्ट्र हैं, जिसका वाणिज्य अल्पविकसित है, फिर भी या कई पहलुओं की दृष्टि से हम समाजवाद में प्रवेश कर चुके हैं। हमें बुर्जुआ अधिकार के एक अंश को मिटाना होगा, लेकिन माल-उत्पादन और विनिमय को अब भी बरकरार रखना होगा। इस समय ऐसी अनुभूति की प्रवृत्ति पायी जाती है कि कम्युनिज्म जितनी जल्दी आये, उतना ही अच्छा है। कुछ लोग यह सुझाव देते हैं कि केवल तीन या पांच साल में हम संक्रमण करने लगेंगे। फान प्रान्त के शातुंग अंचल में यह विचार पेश किया गया था कि चार साल का वक्त भी कुछ धीमी गति का ही होगा।

इस समय कुछ अर्थशास्त्री ऐसे हैं, जिन्हें अर्थशास्त्र से कोई आनन्द नहीं मिलता (उदाहरण के लिए, स्तालिन की वह दूसरी चिट्ठी पाने वाले, जिसे ''सोवियत संघ में समाजवाद की आर्थिक समस्याएं'' कृति में शामिल किया गया है)। फिलहाल और आने वाले कुछ समय तक हमें कम्यूनों के लिए आवश्यक आवंटनों तथा सप्लाई का विस्तार करना पड़ेगा। और हमें माल-उत्पादन का भी विस्तार करना होगा। वरना हम उजरत देने और रहन-सहन के हालात सुधारने में समर्थ नहीं होंगे। हमारे कई साथी गलत आशंकाओं की गिरफ्त में आने का कसूर करते हैं, जब वे माल और माल-उत्पादन के विषय को स्पर्श करते समय रोज-ब-रोज बुर्जुआ नियम को नष्ट कर देना चाहते हैं, यानी वे कहते हैं कि उजरत दर आदि मुक्त सप्लाई प्रणाली के लिए अहितकर हैं। 1953 में हमने मुक्त सप्लाई प्रणाली को उजरत प्रणाली में बदल डाला था।[2] यह रुख बुनियादी तौर पर सही था। हमें एक पग पीछे हटना पड़ा। लेकिन यहां एक समस्या थी : हमें दरों के मामले में भी एक कदम पीछे हटना पड़ा। नतीजा यह हुआ कि इस मसले पर बावेला मच गया। गलतियां सुधारने की अवधि के बाद दरें गिरा दी गयीं। यह दर-प्रणाली पिता-पुत्र सम्बन्ध, बिल्ली-चूहा सम्बन्ध है। इस पर रात-दिन प्रहार करना आवश्यक है। कम्यूनों को और नीचे तक पहुंचाना ''और ज्यादा, और तेज, और बेहतर! किफायत के साथ!'' यह सब हासिल करना और भी ज्यादा आसान हो जाता है।

सब कुछ को अपनी परिधि में लेने वाले सार्वजनिक स्वामित्व का अर्थ क्या है? अर्थ दो हैं : (1)उत्पादन के समाज के साधन की स्वामी पूरी जनता होती है; और (2) समाज जो कुछ पैदा करता है, वह पूरी जनता की मिल्कियत होती है।

जन-कम्यून की अभिलाक्षणिकता यह है कि वह ऐसा बुनियादी स्तर है, जहां उद्योग, कृषि, सेना, शिक्षा और वाणिज्य-व्यापार को समेकित किया जाता है। इस समय यह बुनियादी स्तर का प्रशासनिक ढांचा है। मिलिशिया विदेशी खतरे, खासतौर पर साम्राज्यवादी खतरे से निपटती है। कम्यून दो संक्रमणों को, समाजवादी (मौजूदा) संक्रमण से सबकुछ को अपनी परिधि में लेने वाले सार्वजनिक संक्रमण के कार्य को और सब कुछ को अपनी परिधि में लेने वाले सार्वजनिक स्वामित्व से कम्युनिस्ट स्वामित्व में संक्रमण करने के कार्य को अमली जामा पहनाने का सर्वोत्तम संगठनात्मक रूप है। भविष्य में, जब संक्रमण कार्य पूर्ण हो जायेंगे, तो कम्यून कम्युनिस्ट समाज का आधारभूत-कार्यक्षेत्र बन जायेगा।

(नवम्बर 1958)

टिप्पणियां

1. 1967 के संस्करण में इस दस्तावेज की तिथि 1959 दी हुई है। 1969 के संस्करण

(शेष पृष्ठ 73 पर)

इतिहास कुण्डलाकार गति से आगे बढ़ता है

• हुङ यू

चीन लोकगणराज्य पिछले 25 वर्ष में एक जुझारू राह पर विजयपूर्वक यात्रा करता आया है।

अध्यक्ष माओ की क्रान्तिकारी लाइन के निर्देशन में पिछली चौथाई सदी में हमारी पार्टी में देश की सभी राष्ट्रीयताओं के लोगों को एकजुट करके हर तरह की कठिनाइयों पर विजय पायी है, देश के भीतर और बाहर वर्ग शत्रुओं के हमलों को पीछे धकेला है और समाजवादी क्रान्ति तथा समाजवादी निर्माण में महान जीतें हासिल की हैं। खासकर पिछले 25 वर्षों में हमारी पार्टी चार बड़े दो लाइनों के संघर्षों से गुजरी जिनमें काओ काङ और जाओ सू-शिह, पेङ ते-हुआई, ल्यू शाओ-ची और लिन-प्याओ जैसे अवसरवादी लाइनों के सरगनाओं के पार्टी विरोधी षड्यंत्रों का भण्डाफोड़ करके नष्ट किया गया और समाजवाद की राह पर हमारे देश का आगे बढ़ना सुनिश्चित किया गया। पिछले आठ वर्षों में महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति ने सर्वहारा के अधिनायकत्व के तहत क्रान्ति जारी रखने के अध्यक्ष माओ के सिद्धान्त और नीतियों के सहीपन को और प्रमाणित किया है। इसने समाजवादी क्रान्ति के दौर में वर्ग संघर्ष के नियमों की हमारी समझदारी को और बढ़ाया है। समाजवादी क्रान्ति और समाजवादी निर्माण के हमारे व्यवहार ने बार-बार इस सच्चाई को सिद्ध किया है— क्रान्ति अनिवार्यत: सभी बाधाओं और रुकावटों को पार करते हुए एक टेढ़े-मेढ़े रास्ते से होकर आगे बढ़ती है। पुरानी चीजों की जगह नई चीजें लेती हैं और प्रतिक्रियावादी शक्तियों पर क्रान्तिकारी शक्तियों की विजय अवश्यम्भावी है। यह एक वस्तुगत नियम है जो मनुष्य की इच्छा से परे है।

विपरीत तत्वों की एकता— प्रगतिशीलता और वक्रगति

अपनी कृति *कार्ल मार्क्स* में लेनिन ने चीजों के विकास के नियम का एक जीवन्त और वैज्ञानिक सामान्यीकरण प्रस्तुत किया है। वे बताते हैं : **''एक विकास जो सीधी रेखा में नहीं बल्कि कुण्डलों से गुजरकर आगे बढ़ता है।''** अपनी बहुत सी महत्वपूर्ण कृतियों में अध्यक्ष माओ ने लेनिन के इस विचार की गहरी अन्तर्दृष्टि के साथ व्याख्या की है। उन्होंने इंगित किया है कि : **''घटनाएं मोड़ों और घुमावों से होकर गुजरती हैं और सीधी रेखा में नहीं चलतीं''** *(दीर्घकालीन युद्ध के बारे में)* वर्ग संघर्ष के विकास के नियम पर चर्चा करते हुए उन्होंने कहा है कि **''गड़बड़ करो असफल हो जाओ, फिर गड़बड़ करो फिर असफल हो जाओ..... जब तक कि अन्त न आ जाये; यह दुनिया भर के साम्राज्यवादियों और प्रतिक्रियावादियों का तर्क है और वे कभी इस तर्क के विरुद्ध नहीं जायेंगे। यह एक मार्क्सवादी नियम है। लड़ो, असफल हो जाओ, फिर लड़ो, फिर असफल हो, फिर लड़ो.... जब तक कि जीत न मिल जाये। यह जनता का तर्क है और वह कभी इस तर्क के विरुद्ध के नहीं जायेगी। यह एक और मार्क्सवादी नियम है।''** *(भ्रमों को दूर करो, संघर्ष की तैयारी करो)* अध्यक्ष माओ की यह शिक्षा साम्राज्यवादियों एवं प्रतिक्रियावादियों तथा क्रान्तिकारी जनता के दो बिल्कुल भिन्न अंजामों को इंगित करती है। वह यह भी बताते हैं कि क्रान्तिकारी शक्तियों और प्रतिक्रान्तिकारी शक्तियों के बीच संघर्ष टेढ़े-मेढ़े रास्ते से होकर चलना अपरिहार्य है। प्रतिक्रान्तिकारियों की राह में विघटन और असफलता तथा क्रान्तिकारी जनता की असफलता और सफलता ये दो पहलू हैं जो एक-दूसरे के साथ जुड़े हैं, और एक से दूसरे में रूपान्तरित हो सकते हैं। क्रान्तिकारी संघर्ष के दौरान इन दोनों पहलुओं का बारी-बारी से सामने आना कुण्डलाकार विकास के नियम की एक ठोस अभिव्यक्ति है।

चीजें कुण्डलों से होकर क्यों विकसित होती हैं? ऐसा इसलिए है क्योंकि हर चीज में इसके नये और पुराने पहलुओं के बीच अन्तरविरोध है और अन्तरविरोध के दो पहलू एक समय में एक भी होते हैं और एक-दूसरे के विरोधी भी, और इस तरह वे चीजों के विकास को आगे बढ़ाते हैं। निम्न से उच्च अवस्था में चीजों के विकास के दौरान नयी चीजें लगातार पुरानी चीजों को पराजित करते हुए आगे बढ़ती हैं। पुराने को पराजित कर उसे हटाने के दौरान नयी चीज को पुरानी के तगड़े प्रतिरोध का सामना करना ही पड़ता है। निरन्तर और उग्र संघर्षों के द्वारा ही नयी चीज ताकत में बढ़ सकती है और अपना प्रभुत्व कायम कर सकती है। और इसी तरह से पुरानी चीज कमजोर होकर क्रमश: नष्ट होने के लिए बाध्य की जा सकती है। इसलिए इस तथ्य के बावजूद कि चीजों के विकास की आम दिशा निम्न से उच्च अवस्था की ओर एक अग्रगामी गति होती है, यह एक सीधी रेखा में आगे नहीं बढ़ सकती। विकास की वास्तविक प्रक्रिया में यह अपरिहार्य परिघटना है कि किसी न किसी समय पर विभिन्न मोड़ और घुमाव आते हैं। अध्यक्ष माओ ने कहा है: **''दुनिया की हर गतिविधि की तरह क्रान्ति भी हमेशा ही टेढ़े-मेढ़े रास्तों से आगे बढ़ती है, सीधे रास्ते से नहीं।''** *(जापानी साम्राज्यवाद के विरुद्ध रणकौशल के बारे में)* ऐसा इसलिए है क्योंकि क्रान्तिकारी शक्तियों के विकास और प्रतिक्रान्तिकारी शक्तियों की मृत्यु की एक सुनिश्चित विकास प्रक्रिया होती है और क्रान्तिकारी शक्तियां प्रतिक्रान्तिकारी शक्तियों को रातोंरात पराजित और नष्ट नहीं कर सकतीं। ऐसा इसलिए भी है क्योंकि वस्तुगत नियमों का संज्ञान, आवश्यकता के दायरे से स्वतंत्रता

के दायरे में छलांग के लिए अनुभवों के संचयन की एक प्रक्रिया की जरूरत होती है—अनुभवहीनता से अनुभव तक, कम अनुभव से ज्यादा अनुभव तक की प्रक्रिया। सकारात्मक और नकारात्मक अनुभवों के बीच बार-बार तुलना करके ही हम क्रान्ति के विकास के नियम की सही समझदारी हासिल कर सकते हैं और इस नियम को क्रान्तिकारी कार्यभारों को पूरा करने के लिए सचेतन तौर पर लागू कर सकते हैं।

कुण्डलाकार विकास में वृत्तों की एक श्रृंखला जरूर होती है लेकिन हर चक्र पिछले चक्र का साधारण दुहराव नहीं होता और वहीं पर नहीं लौट आता जहां से यह शुरू हुआ था। जैसा कि माओ त्से-तुङ ने कहा है : **''हर चक्र के साथ व्यवहार और सिद्धान्त की अन्तर्वस्तु एक उच्चतर स्तर तक ऊपर उठ जाती है।''** *(व्यवहार के बारे में)* ऊपरी तौर पर विपर्यय और टेढ़े-मेढ़े रास्ते सही मार्ग से हटने जैसा दिख सकते हैं लेकिन वास्तव में हर बार जब भी किसी विपर्यय या मोड़ और घुमाव पर विजय पायी जाती है तो इसके साथ अनिवार्यत: एक नयी जीत और प्रगति जुड़ी होती है जो उस चीज को एक नयी अवस्था में ले जाती है। पुरानी अवस्था की तुलना में हर नई चीज तुलनात्मक रूप से उच्चतर धरातल पर लायी जाती है और किसी भी तरह मूल स्थान तक नहीं लौट सकती। विपरीत तत्वों की एकता—चीजों की प्रगतिशीलता और उनके विकास के मोड़ और घुमाव—मिलकर जटिल कुण्डलाकार गति बनाते हैं। यह दृष्टिकोण कि चीजें सीधी रेखा में आगे बढ़ती हैं, चीजों के विकास की वक्राकार प्रकृति को नकारता है और यह दृष्टिकोण कि चीजें गोल दायरे में घूमती हैं, चीजों के विकास की प्रगतिशील प्रकृति को नकारता है। ये दोनों ही चीजों के विकास की प्रगतिशील और वक्राकार प्रकृति की द्वंद्वात्मक एकता को नकारते हैं और अपरिहार्यत: अधिभूतवाद के दलदल में ले जाते हैं।

पिछले कई हजार वर्षों के मानव समाज के विकास का इतिहास मोड़ों और घुमावों से भरा हुआ कुण्डलाकार विकास का इतिहास है। अतीत की क्रान्तियां, चाहे वह दास प्रथा को हटाकर सामन्ती व्यवस्था का आना हो या सामन्ती व्यवस्था के स्थान पर पूंजीवादी व्यवस्था का आना हो वे दर्जनों या सैकड़ों वर्षों तक लगातार और तमाम मोड़ों-घुमावों से भरे हुए संघर्षों से प्रगति और विपरीत गति, पुनर्स्थापना और प्रतिपुनर्स्थापना से होकर गुजरी हैं। जब एक शोषक व्यवस्था को हटाकर दूसरी शोषक व्यवस्था लाने की विकास प्रक्रिया ऐसी रही है तो समाजवादी क्रान्ति, जिसमें समाजवाद पूंजीवाद पर विजय पाता है और जो शोषण की व्यवस्था तथा वर्गों के पूर्ण खात्मे को अपना लक्ष्य बनाती है, उसकी राह कदापि सुगम नहीं हो सकती। इसमें संघर्ष पिछली किसी भी क्रान्तियों से ज्यादा टेढ़े-मेढ़े और दीर्घकालिक होंगे और इसके लिए जबर्दस्त प्रयास करने होंगे। अध्यक्ष माओ ने हमें बताया है : **''नई चीजों को आगे बढ़ने में हमेशा ही कठिनाइयों और धक्कों का सामना करना पड़ता है। यह कल्पना करना महज एक फन्तासी है कि समाजवाद के लक्ष्य तक बिना कठिनाइयों और या धक्कों के या बिना जबर्दस्त प्रयास किये हुए आसानी से पहुंचा जा सकता है।''** *(जनता के बीच अन्तरविरोधों को सही ढंग से हल करने के बारे में)* उन्होंने यह बात 1957 में कही थी। पिछले 17 वर्षों के व्यवहार ने इस दृष्टिकोण की हमारी समझदारी को और विकसित किया है। सर्वहारा द्वारा राजनीतिक सत्ता पर कब्जे के बाद उखाड़ फेंके गये प्रतिक्रियावादी वर्ग अपनी पराजय को चुपचाप स्वीकार नहीं करते। वे अपने खोये हुए स्वर्ग की वापसी के लिए बार-बार षड्यंत्र और तोड़फोड़ करते हैं और वापसी के लिए अपने राजनीतिक प्रतिनिधि के तौर पर कम्युनिस्ट पार्टी की कतारों में अपने एजेण्ट तलाशते हैं। इसके अलावा अधिरचना के दायरे में समाजवादी क्रान्ति शोषक वर्गों के पारम्परिक विचारों के हजारों वर्षों के प्रभावों के चलते कहीं ज्यादा कठिन होगी। यह तय करने में काफी लम्बा समय लगेगा कि राजनीतिक और विचारधारात्मक दायरों में कौन जीतेगा। देश के भीतर वर्ग संघर्ष और दो लाइनों का संघर्ष हमेशा ही अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर वर्ग संघर्ष के साथ तालमेल कर चलता है। घरेलू वर्ग शत्रु निश्चित रूप से साम्राज्यवादियों और सामाजिक साम्राज्यवादियों के साथ-साथ सांठ-गांठ करेंगे और जहां भी उन्हें मौका मिलेगा वहां गड़बड़ी करेंगे। इसलिए राजनीतिक सत्ता पर कब्जे के बाद सर्वहारा वर्ग के सामने सर्वहारा के अधिनायकत्व को मजबूत करने, मजदूर किसान संश्रय को मजबूत करने, विभिन्न राष्ट्रीयताओं की जनता को एकजुट करने और सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत क्रान्ति को आगे बढ़ाने का काम रहता है। काफी काम अभी बाकी रहता है। सर्वहारा को दीर्घकालिक और बार-बार संघर्षों में मिलने वाले सकारात्मक और नकारात्मक अनुभवों का समाहार करते हुए समाजवादी क्रान्ति और समाजवादी निर्माण के नियम की अपनी समझदारी को गहरा बनाते जाना होगा। इसी तरीके से वह प्रगति की राह पर कठिनाइयों और अवरोधों पर जीत हासिल कर सकता है, बुर्जुआ तथा सभी अन्य शोषक वर्गों को हरा सकता है और कम्युनिज्म की प्राप्ति कर सकता है।

चीन के समाजवादी लक्ष्य के विकास की टेढ़ी-मेढ़ी राह

पिछले 25 वर्षों में हमारा समाजवादी उद्देश्य दो वर्गों, दो रास्तों और दो लाइनों के बीच संघर्षों की टेढ़ी-मेढ़ी राह से विकसित हुआ है। 1949 में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की सातवीं केन्द्रीय कमेटी के दूसरे प्लेनरी सत्र में बोलते हुए अध्यक्ष माओ ने समाजवादी क्रान्ति के दौर में देश और अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर प्रधान अन्तरविरोधों को स्पष्टत: इंगित किया था और सर्वहारा तथा बुर्जुआ वर्ग के बीच संघर्ष की दीर्घकालिक और जटिल प्रकृति को देखा था। उन्होंने नव जनवादी क्रान्ति से समाजवादी क्रान्ति के संक्रमण के लिए सही लाइन तय की थी और बुनियादी कदम और विभिन्न सिद्धान्त और नीतियां तय किये थे।

नये चीन के जन्म के ठीक बाद के वर्षों में पार्टी ने राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को बहाल करने और *सान फान* तथा *वू फान* आन्दोलनों में पूरे देश की जनता का नेतृत्व किया। (ये आन्दोलन क्रमश: तीन बुराइयों—भ्रष्टाचार, बर्बादी और नौकरशाही तथा पांच बुराइयों—सरकारी कर्मियों की रिश्वतखोरी, करचोरी, राज्य सम्पत्ति की चोरी, सरकारी अनुबन्धों में घपलेबाजी और निजी सट्टेबाजी के लिए आर्थिक सूचना की चोरी के खिलाफ थे।) उसने समाजवादी औद्योगीकरण तथा कृषि, दस्तकारी और पूंजीवादी उद्योग एवं वाणिज्य के समाजवादी रूपान्तरण की आम दिशा प्रस्तुत की और समाजवादी निर्माण की पहली

पंचवर्षीय योजना (1953-57) की शुरुआत की। समाजवादी क्रान्ति और निर्माण के तीव्र विकास ने देश भर में जनता को उमंग और उत्साह से भर दिया लेकिन इसी के साथ उसने देश-विदेश में वर्ग शत्रुओं में गहरी नफरत और भय भी पैदा किया।

पार्टी में घुस आये बुर्जुआ कैरियरवादी काओ काङ और जाओ सू-शिह ने एक पार्टी विरोधी गठजोड़ कायम किया और साजिशाना कार्रवाइयां चलाते हुए हमारी पार्टी में फूट डालने, पार्टी और राज्य में सर्वोच्च सत्ता पर कब्जा करने और समाजवाद का विकास रोकने की असफल कोशिशें कीं। अध्यक्ष माओ ने काओ-जाओ पार्टी विरोधी गुट का पर्दाफाश कर उसे नाकाम करने में पूरी पार्टी का नेतृत्व किया और सभी पार्टी सदस्यों तथा देश की जनता को एकजुट करके उत्पादन के साधनों के स्वामित्व के समाजवादी रूपान्तरण में एक नया उभार पैदा किया।

बुर्जुआ वर्ग ने इस जीत को चुपचाप स्वीकार नहीं किया। 1957 के शुद्धीकरण अभियान का लाभ उठाकर इसने पार्टी पर एक और उग्र हमला बोला। इससे स्पष्ट था कि केवल आर्थिक मोर्चे पर समाजवादी क्रान्ति से समाजवादी व्यवस्था अब भी सुदृढ़ नहीं हुई थी और राजनीतिक तथा विचारधारात्मक मोर्चों पर व्यापक समाजवादी क्रान्ति चलाना जरूरी था। सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत क्रान्ति जारी रखने के माओ त्से-तुङ के सिद्धान्त के निर्देशन में देश में बुर्जुआ दक्षिणपंथियों को पीछे ढकेलने का ऊर्जस्वी संघर्ष शुरू किया गया और एक बार फिर बुर्जुआ वर्ग के बड़े पैमाने पर उन्मादी हमलों को पराजित कर दिया गया। इससे समाजवादी क्रान्ति और निर्माण के तेज विकास को और उत्प्रेरण मिला। देश और विदेश में समाजवादी क्रान्ति के सकारात्मक और नकारात्मक अनुभवों का समाहार करके अध्यक्ष माओ ने आम दिशा दी : **''समाजवादी निर्माण के लिए सब कुछ करो, लक्ष्य ऊंचे रखो और ज्यादा बड़े, ज्यादा तेज, ज्यादा बेहतर और ज्यादा मितव्ययितापूर्ण परिणाम हासिल करो।''** इसी के परिणामस्वरूप 1958 में राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में महान अग्रवर्ती छलांग और जन कम्यूनों की स्थापना सम्भव हुई। लेकिन राजनीतिक विचारधारात्मक दायरों में संघर्ष बहुत सघन रहा। 1959 की लुशान बैठक में पेङ ते-हुआई पार्टी विरोधी गुट ने आम दिशा, महान अग्रवर्ती छलांग और जन कम्यून पर हमला बोला। अध्यक्ष माओ ने इस हमले का मुंहतोड़ जवाब देने और पेङ ते-हुआई दक्षिणपंथी अवसरवादी गुट को खत्म करने में पार्टी का नेतृत्व किया। उस गुट की साजिश पूरी तरह नाकाम रही। लगातार गहरी होती समाजवादी क्रान्ति के बीच में ल्यू शाओ-ची के गद्दार गुट ने प्रतिक्रान्तिकारी गतिविधियां तेज कर दीं। जिस दौरान चीन को लगातार तीन वर्षों तक प्राकृतिक आपदाओं और सोवियत संशोधनवादी गद्दार गुट की साजिश के चलते अस्थायी रूप से आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, उसी दौरान ल्यू शाओ-ची और उसके अनुयायियों ने खुल्लमखुल्ला *शान जी यी बाओ* (निजी इस्तेमाल के लिए भूखण्डों का विस्तार, मुक्त बाजारों का विस्तार, ऐसे छोटे उद्योगों का विस्तार जो अपने हानि-लाभ के लिए खुद जिम्मेदार होंगे, और अलग-अलग गृहस्थियों पर आधारित उत्पादन कोटा तय करना) और *सान हे यी शाओ* (साम्राज्यवादियों, प्रतिक्रियावादियों और आधुनिक संशोधनवादियों के विरुद्ध संघर्ष का विसर्जन और विभिन्न देशों की जनता के क्रान्तिकारी संघर्षों को मदद और समर्थन कम करना) की संशोधनवादी लाइन को आगे बढ़ाया। उन्होंने राजनीतिक, विचारधारात्मक और आर्थिक दायरों में पूंजीवाद की पुनर्स्थापना करने के लिए अपनी आपराधिक कार्रवाइयों में कोई कसर नहीं उठा रखी।

सितम्बर 1962 में पार्टी की आठवीं केन्द्रीय कमेटी के दसवें प्लेनरी सत्र में अध्यक्ष माओ ने देश और विदेश में सर्वहारा अधिनायकत्व के ऐतिहासिक अनुभव का समाहार किया, समाजवाद के पूरे ऐतिहासिक दौर के लिए पार्टी की बुनियादी लाइन को और पूर्ण तरीके से आगे बढ़ाया तथा यह महान आह्वान किया : **''वर्गों और वर्ग संघर्ष को कभी मत भूलो।''** इसके ठीक बाद उन्होंने राष्ट्रव्यापी स्तर पर समाजवादी शिक्षा आन्दोलन की शुरुआत की, ल्यू शाओ-ची की प्रतिक्रियावादी बुर्जुआ लाइन की आलोचना की जो कि रूप में ''वाम'' लेकिन सारत: दक्षिण थी। उन्होंने पीकिङ ऑपेरा और संस्कृति तथा कला के अन्य क्षेत्रों में क्रान्ति की शुरुआत की और *हाई जुई कार्यालय से बर्खास्त* (दक्षिणपंथी अवसरवादियों पर पारित फैसले की आलोचना करने वाला एक गलत ऑपेरा) की आलोचना की शुरुआत की और इस तरह महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति शुरू हुई।

महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान संघर्षों में विपर्यय और टेढ़े-मेढ़े रास्ते और भी ज्यादा झकझोरने वाले थे। अध्यक्ष माओ के नेतृत्व में पूरी पार्टी तथा पूरे देश की जनता ने हर तरह की बाधाओं को तोड़कर और कठिन संघर्षों से गुजरकर अन्तत: बुर्जुआ हेडक्वार्टर को ध्वस्त कर दिया था जिसका सरगना ल्यू शाओ-ची था। लेकिन संघर्ष यहां खत्म नहीं हुआ। बुर्जुआ कैरियरवादी और षड्यंत्रकारी लिन प्याओ ल्यू शाओ-ची की प्रतिक्रान्तिकारी गतिविधियों को आगे बढ़ाने के लिए खुलकर सामने आ गया। उसने महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति का विरोध किया, नई समाजवादी चीजों पर हमला किया और एक प्रतिक्रान्तिकारी सशस्त्र तख्तापलट करने, सर्वहारा अधिनायकत्व को विफल करने और पूंजीवाद की पुनर्स्थापना करने की साजिश रची। गहरी अन्तर्दृष्टि के साथ अध्यक्ष माओ ने इसे पहचान लिया और लिन प्याओ पार्टी विरोधी गुट का पर्दाफाश करने तथा कन्फ्यूशियस के ''खुद पर संयम रखने और परम्पराओं की ओर लौटने'' के सिद्धान्त के जरिये पूंजीवाद की पुनर्स्थापना करने के उसके प्रतिक्रान्तिकारी मंसूबों को चकनाचूर कर दिया। इस समय लिन प्याओ और कन्फ्यूशियस की आलोचना करने के गहराते हुए आन्दोलन का उद्देश्य लिन प्याओ पार्टी-विरोधी गुट और उसकी संशोधनवादी लाइन का पूरी तरह खंडन करना है, कन्फ्यूशियस और मेन्शियस के सिद्धान्तों की आलोचना करना है। ये सिद्धान्त उन प्रतिक्रियावादी पतनशील वर्गों की विचारधारा है जिनके हितों को लिन प्याओ आगे बढ़ा रहा था। साथ ही इस आन्दोलन का उद्देश्य महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की शानदार उपलब्धियों को सुदृढ़ और विकसित करना तथा सर्वहारा अधिनायकत्व को और मजबूत बनाना है। ऐतिहासिक अनुभव ने सिद्ध किया है कि समाजवाद के लक्ष्य में हर विजय बार-बार संघर्षों के द्वारा ही हासिल हुई है। अतीत की तरह ही आने वाले दिनों में समाजवादी क्रान्ति वर्ग संघर्ष तथा दो लाइनों के बीच संघर्ष से होते हुए कुण्डलाकार रास्ते से आगे बढ़ेगी।

सीधी रेखा में इतिहास विकास के अधिभूतवादी दृष्टिकोण पर विजय पाओ

इतिहास के कुण्डलाकार विकास के दृष्टिकोण से क्रान्तिकारी संघर्ष की स्थिति का प्रेक्षण और विश्लेषण करने के लिए यह जरूरी है कि उस अधिभूतवादी दृष्टिकोण से छुटकारा पाया जाये जिसके मुताबिक इतिहास सीधी रेखा में विकसित होता है। लेनिन ने इंगित किया था **''मानवीय ज्ञान एक सीधी रेखा नहीं है (या उस पर नहीं चलता), बल्कि यह एक वक्र है जो वर्गों की अन्तहीन श्रृंखला, एक कुण्डल से होकर चलता है''**। *(द्वंद्ववाद के प्रश्न पर।)* वर्ग संघर्ष में समस्याओं को एक सीधी रेखा में देखने का अर्थ होता है ''केवल संघर्ष और संश्रय नहीं'' या ''केवल संश्रय और संघर्ष नहीं''। अध्यक्ष माओ के निर्देशों के अनुसार और पार्टी के ऐतिहासिक अनुभवों की रोशनी में दसवीं पार्टी कांग्रेस ने एक बार फिर हमें इन दो तरह की एकतरफा चीजों से बचने और उनका विरोध करने की जरूरत का ध्यान कराया।

अगर हमें यह नहीं मालूम होगा कि संघर्ष की राह में उतार-चढ़ाव, तनाव और शिथिलता के दौर आते हैं और संश्रय की प्रक्रिया में प्रतिक्रियावादी चीजों के विरुद्ध संघर्ष शामिल होता है तो हम कुण्डलाकार विकास के नियम को नहीं समझ पायेंगे। जापान विरोधी प्रतिरोध युद्ध के दौर में माओ त्से-तुङ ने इंगित किया था **''आज जापान विरोधी राष्ट्रीय संयुक्त मोर्चे की हमारी नीति न तो 'केवल संश्रय और संघर्ष नहीं' की नीति है और न ही यह 'केवल संघर्ष और संश्रय नहीं' की नीति है बल्कि यह संश्रय और संघर्ष को मिलाती है''** *(नीति के बारे में)* किसी भी बड़े वर्ग संघर्ष और दो लाइनों के संघर्ष को जीत तक पहुंचाने के लिए इस मार्क्सवादी नीति पर अच्छी पकड़ होना जरूरी है। **''एकता-आलोचना-एकता''** का सूत्र कुण्डलाकार विकास के नियम से मेल खाता है और जनता के बीच संघर्षों को सही ढंग से हल करने की एक महत्वपूर्ण पद्धति है। ये अन्तरविरोध और हमारे तथा दुश्मन के बीच के अन्तरविरोध दो अलग-अलग तरह के अन्तरविरोध हैं। जनता के बीच अलग-अलग लोगों का ज्ञान हमेशा एक सा नहीं होता लेकिन उन्हें मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओ त्से-तुङ विचारधारा के आधार पर आलोचना या संघर्ष के जरिये तथा लाइन के मामलों में सही और गलत के बीच भेद के जरिये एकजुट किया जा सकता है। केवल एकता के जरिये ही सही लाइन लागू की जा सकती है और गलत लाइन पर विजय पायी जा सकती है। जनता के बीच अन्तरविरोधों के अस्तित्व से इंकार करना और केवल एकता पर जोर देना तथा संघर्ष को नकारना क्रान्तिकारी लक्ष्य को नुकसान पहुंचायेगा। इसी तरह दो भिन्न तरह के अन्तरविरोधों को मिला देने, संघर्ष पर जोर देने लेकिन एकता को नकारने और संघर्ष तथा एकता के द्वंद्वात्मक सम्बन्धों को नहीं जानने और क्रान्तिकारी एकता के सर्वोच्च महत्व को नहीं समझने से भी क्रान्तिकारी लक्ष्य को नुकसान होगा। ये दोनों प्रवृत्तियां समस्याओं को सीधी रेखा में देखने तथा कुण्डलाकार विकास के नियम के विरुद्ध जाने की अभिव्यक्तियां हैं। ये दो प्रवृत्तियां हमारी पार्टी के इतिहास में मौजूद रही हैं और उन्होंने पार्टी को नुकसान पहुंचाया है। इसलिए हमें उन पर पूरा ध्यान देना होगा और एक प्रवृत्ति के दूसरे पर हावी होने के ऐतिहासिक अनुभव को हमेशा ध्यान में रखना होगा।

जापान विरोधी प्रतिरोध युद्ध के दौरान अध्यक्ष माओ ने खाने और सोने जैसे रोजमर्रा के कामों का उदाहरण लेते हुए यह समझाया था कि द्वंद्ववाद का क्या मतलब होता है। जो लोग बहादुरी से लड़ने और दुश्मन को खत्म करने के लिए अस्थायी तौर पर पीछे हटने के बीच के द्वंद्वात्मक सम्बन्धों को नहीं समझ पाते थे उनसे अध्यक्ष माओ ने कहा था : **''खाना, और फिर पेट खाली कर देना—क्या यह बेकार में खाना नहीं है? सोना, और फिर उठ जाना—क्या यह बेकार में सोना नहीं है? क्या सवालों को इस ढंग से रखा जाना चाहिए? मैं समझता हूं ऐसा नहीं करना चाहिए।''** *(दीर्घकालीन लोकयुद्ध के बारे में।)* चीजों को सीधी रेखा में देखना सोचने का अधिभूतवादी तरीका है और यह वैसा ही है जैसे ''बिना पेट खाली किये खाते रहना और ''बिना उठे सोना''। जो भी इस ढंग से सोचने का आदी होता है वह अनिवार्यत: यह नहीं देख पाता कि क्या सार है और क्या प्रतीति, क्या मुख्य धारा है और क्या उपधारा, क्या अंश है और क्या सम्पूर्ण। सोचने का यह ढंग जब क्रान्ति सफलतापूर्वक आगे बढ़ रही हो तो अन्ध आशावाद और सर्तकता का अभाव पैदा करता है। और जब क्रान्ति कठिनाइयां झेलती होती है तो असहायता, निराशा और अकर्मण्यता को जन्म देता है। कुण्डलाकार विकास के द्वंद्वात्मक दृष्टिकोण का इस्तेमाल करके ही हम क्रान्ति के विकास में अपरिहार्य विपर्ययों और टेढ़े-मेढ़े रास्तों को देख सकते हैं और साथ ही उस समय भी क्रान्ति की अनिवार्य जीत को देख सकते हैं जब वह मोड़ों और घुमावों से गुजर रही होती है।

क्रान्तिकारी संघर्ष में विपर्यय और मोड़ एवं घुमाव का दोहरा चरित्र होता है। क्रान्ति के लिए संक्रमणकालीन कठिनाइयां पैदा करने के साथ ही वे क्रान्तिकारी लक्ष्य के लिए और बड़ी सफलताओं का मार्ग भी प्रशस्त करते हैं। क्रान्तिकारी जनता को सकारात्मक और नकारात्मक अनुभवों दोनों से शिक्षित करना होता है। 1927 के पहले क्रान्तिकारी गृह युद्ध की असफलता चीनी जनता के लिए एक गहरा सबक थी जिसने उसे सर्वहारा द्वारा नेतृत्व अपने हाथ में लेने के अपार महत्व का अहसास कराया और इस मार्क्सवादी सच्चाई का अहसास कराया कि **''राजनीतिक सत्ता का जन्म बन्दूक की नली से होता है''** अध्यक्ष माओ की सर्वहारा क्रान्तिकारी लाइन के निर्देशन में हमारी पार्टी ने चीनी क्रान्ति के लिए तीन मुख्य जादुई हथियारों (संयुक्त मोर्चा, सशस्त्र संघर्ष और पार्टी निर्माण) पर महारत हासिल की। गांवों से शहरों को घेरने और फिर शहरों पर कब्जा करने की सही राह निकाली और चीनी क्रान्ति को विकास की एक नयी अवस्था में पहुंचाया। यह ऐतिहासिक अनुभव क्रान्तिकारी जनता के लिए एक अमूल्य सम्पदा है। अध्यक्ष माओ अक्सर पार्टी कार्यकर्ताओं को बताते हैं कि वे हमारी पार्टी के इतिहास में अनेक सफलताओं और असफलताओं के अनुभवों और सबकों को ध्यान में रखें। ऐसा करते हुए वह हमें क्रान्ति की राह पर विपर्ययों और मोड़ों-घुमावों का द्वंद्वात्मक भौतिकवादी दृष्टिकोण से विश्लेषण करना सिखा रहे होते हैं। जब हम यह अध्ययन कर लेंगे कि कैसे अतीत में प्रतिक्रान्तिकारी वर्गों ने पुनर्स्थापना की और हर नई समाज व्यवस्था को सुदृढ़ करने में संघर्ष कितना जटिल था तो हम सर्वहारा अधिनायकत्व को मजबूत करने और पूंजीवाद

की पुनर्स्थापना रोकने के महत्व को बेहतर ढंग से समझेंगे।

मोड़ और घुमाव क्रान्ति के बढ़ाव को रोक नहीं सकते

क्रान्ति की राह पर विपर्यय तथा मोड़-घुमाव इतिहास की लम्बी नदी में छोटे बड़े भंवरों के समान हैं और उनका ज्यादा महत्व नहीं है। जहां तक पूरे इतिहास का सवाल है विकास और उत्थान मुख्य धारा तथा सार हैं जबकि मोड़-घुमाव और पीछे हटना केवल शाखाएं और अस्थायी परिघटनाएं हैं। सर्वहारा के हाथों बुर्जुआ की पराजय निश्चित है, समाजवाद की पूंजीवाद पर विजय निश्चित है, मार्क्सवाद की संशोधनवाद पर जीत निश्चित है—यह इतिहास के विकास की स्थापित आम प्रवृत्ति है। माओ त्से-तुङ के शब्दों में, ''**दुनिया तरक्की कर रही है, भविष्य उज्ज्वल है और कोई भी इतिहास की इस आम दिशा को बदल नहीं सकता।** *(चुङकिङ वार्ताओं के बारे में)* अतीत में और आधुनिक समय में भी इतिहास विकास में अनगिनत विपर्यय और मोड़ एवं घुमाव आते रहे हैं। कन्फ्यूशियस (551-476 ईसा पूर्व) से युवान शिह-काई (1859-1916) और च्याङ काई-शेक तक, और चेङ तू-शिउ से वाङ मिङ, ल्यू शाओ-ची और लिन प्याओ तक सभी प्रतिक्रियावादी थे जो इतिहास की धारा के विरुद्ध तैर रहे थे। उनमें से कोई भी इतिहास की घड़ी को पीछे घुमाने में कामयाब नहीं हो पाया। इसके बजाय उन सबने अपने ही पैरों पर कुल्हाड़ी मारी और खुद को ही नष्ट कर लिया।

हमारा दृढ़ विश्वास है कि कोई भी विपर्यय और किसी भी तरह का मोड़ और घुमाव क्रान्ति के लक्ष्य को आगे बढ़ने से नहीं रोक सकता। यह विश्वास इस ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टिकोण पर आधारित है कि **''जनता, और केवल जनता ही विश्व इतिहास की निर्मात्री शक्ति है।''** हमेशा ही जनता इतिहास बनाती रही है और जनता हमेशा ही क्रान्ति चाहती है। चीन की व्यापक जनता समाजवाद की राह अपनाने पर दृढ़ है। मजदूर वर्ग, गरीब और निम्नमध्यम किसान, जनमुक्ति सेना के कमाण्डर और योद्धा, क्रान्तिकारी कार्यकर्ता और क्रान्तिकारी बुद्धिजीवी—सबमें पार्टी और अध्यक्ष माओ के लिए गहरी सर्वहारा भावनाएं हैं और समाजवादी लक्ष्य के लिए अपार उत्साह है। जबतक जनता में हमारा दृढ़ विश्वास होगा और हम उस पर भरोसा करेंगे हम किसी भी विपर्यय या मोड़ और घुमाव पर पार पा लेंगे और किसी भी कठिनाई को दूर कर लेंगे।

''विचारधारात्मक और राजनीतिक लाइन का सही या गलत होना ही सब कुछ तय करता है।'' हमारा यह भी दृढ़ विश्वास है कि कोई भी विपर्यय या मोड़ और घुमाव क्रान्तिकारी उद्देश्य को आगे बढ़ाने में बाधा नहीं डाल सकता क्योंकि हमारी क्रान्ति सही मार्क्सवादी-लेनिनवादी लाइन के निर्देशन में चल रही है। अध्यक्ष माओ की सर्वहारा क्रान्तिकारी लाइन मार्क्सवाद-लेनिनवाद तथा चीनी क्रान्ति के ठोस व्यवहार के एकीकरण से जन्मी है। यह क्रान्ति में जीत हासिल करने की बुनियादी गारण्टी है। इस सर्वहारा क्रान्तिकारी लाइन के चलते हमने साम्राज्यवाद और क्वोमिन्ताङ प्रतिक्रियावादियों को हराया, राजनीतिक सत्ता पर कब्जा किया और समाजवादी क्रान्ति तथा निर्माण में महान जीतें हासिल कीं। जब गलत लाइन हावी थी तो हमारे संघर्षों में विपर्यय और मोड़ एवं घुमाव आये जिन्होंने क्रान्तिकारी लक्ष्य को गम्भीर नुकसान पहुंचाया। लेकिन जब सही लाइन हावी होती है तो हमारे संघर्षों में आने वाले मोड़ एवं घुमाव केवल आंशिक व अस्थायी होते हैं और उन्हें दूर करना कठिन नहीं होता। आठ वर्षों तक महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की आंच में तपने के बाद हमारे देश में सर्वहारा अधिनायकत्व पहले हमेशा से ज्यादा सुदृढ़ हो चुका है। जब तक हम क्रान्तिकारी एकता को मजबूत करते रहेंगे अध्यक्ष माओ की सर्वहारा क्रान्तिकारी लाइन को अडिग होकर लागू करेंगे और दो अलग-अलग तरह के अन्तरविरोधों में सही ढंग से भेद करते हुए उन्हें सही ढंग से लागू करते रहेंगे तब तक हम क्रान्तिकारी परिस्थिति को और शानदार बनाते जायेंगे।

''भविष्य उज्ज्वल है लेकिन रास्ते में मोड़ और घुमाव हैं।'' यह अगणित ऐतिहासिक अनुभवों के समाहार से निकला वैज्ञानिक निष्कर्ष है और इसे व्यवहार ने सही सिद्ध किया है।

(यह लेख 25 अक्टूबर 1974 को *'पीकिङ रिव्यू'* में प्रकाशित हुआ था।)

हिटलर के वंशजों का खतरनाक अभियान

(पृष्ठ 20 का शेष)

पीछे हटती जा रही हैं। और अध्यात्मवाद-धर्म की आड़ में देश की चल-अचल परिसम्पत्तियां पूजा के रूप में और वैश्वीकरण के नाम पर पारराष्ट्रीय निगमों के चरणों में चढ़ायी जा रही हैं। खुला और खरा खेल फर्रुखाबादी!

इधर नागपुर के सन्त और बाल -ब्रह्मचारी एक नये व्यापार में जुट गये हैं। वे अदालतों की शरण ले रहे हैं या शरण लेने की धमकी दे रहे हैं यह मांग करते हुए कि महात्मा गांधी की हत्या में आर.एस.एस. का हाथ होने का आरोप लगाने वाले प्रमाण प्रस्तुत करें। 50 के दशक में अमरीका के एक शोधकर्मी **जे.ए.करान** ने अपनी पुस्तक **('मिलिटेंट हिंदुइज्म इन इंडियन पोलिटिक्स' पृ. 18-19)** में लिखा कि हेडगेवार ने सावरकर के साथ चौथे दशक के शुरू में जब आज के महाराष्ट्र के कुछ इलाकों का दौरा किया तो उनके (हेडगेवार के) साथ ''उनका एक सलाहकार नाथूराम गोडसे था, जिसने 16 वर्ष बाद पिस्तौल से गांधी जी की हत्या की। गोडसे 1930 ई. में आर.एस.एस. से आया, वह प्रचारक और वक्ता के रूप में प्रसिद्ध हुआ...।'' गांधीजी की हत्या के प्रसंग में इससे कुछ पहले पंडित नेहरू ने पटेल को पत्र लिखा था : ''मैं इस नतीजे पर ज्यादा से ज्यादा पहुंच रहा हूं कि बापू की हत्या कोई अकेला काम नहीं था, बल्कि मुख्यत: आर.एस.एस. द्वारा संगठित कहीं अधिक व्यापक अभियान का हिस्सा था'' (**सरदार पटेल्स करेस्पोंडेंस**, सम्पादक दुर्गादास (1945-1950) खण्ड 8, पृ. 35)। नाथूराम गोडसे के भाई गोपाल गोडसे ने कुछ साल पूर्व इस बात की पुष्टि की थी कि उनके भाई आर.एस.एस. में रह चुके थे।

महात्मा गांधी को शाखाधिपतियों ने जब अपने कठोर परिश्रम, साहस और अनुशासन जैसे गुणों से प्रभावित करने का यत्न किया, तो गांधी जी ने उन्हें याद दिलाया ''... भूलो मत कि हिटलर के नाजियों और मुसोलिनी के फासिस्टों में भी यही गुण थे।'' (**द लास्ट फेज, प्यारेलाल,** पृ. 440)।

आज के उपमहाद्वीप में हिन्दू-मुस्लिम तालिबान को देखकर क्या कोई यह मान लेगा कि हिटलर और मुसोलिनी पृथ्वी से लुप्त हो गये हैं? ●

राष्ट्रीय सवाल

• जार्ज थामसन

1. आधुनिक समाज में राष्ट्र

राष्ट्र एक सामाजिक संरचना है जो सामन्तवाद से पूंजीवाद में संक्रमण के दौरान माल-उत्पादन के विकास के साथ अपने स्वरूप में मूर्तमान हुआ। बुर्जुआ-जनवादी क्रान्ति के लक्ष्यों में से एक लक्ष्य राष्ट्रीय स्वतंत्रता है। और राष्ट्रीय स्वतंत्रता—या राष्ट्रीय आन्दोलन, जैसा कि इसे कहा जाता है—के लिए संघर्ष तब उठ खड़ा होता है जब पराधीन जनता के एक अंग के रूप में बुर्जुआ वर्ग विदेशी शासन को उखाड़ फेंकने तथा उसके स्थान पर अपना शासन कायम करने के लिए बाकी जनता को अपने इर्द-गिर्द लामबन्द कर लेता है। इस सन्दर्भ में 'जनता' शब्द का मतलब है ऐसे लोगों का समुदाय जो एक ही भौगोलिक क्षेत्र में निवास करते हैं तथा एक ही भाषा बोलते हैं। बेशक ऐसे समुदाय आदिम काल से ही अस्तित्वमान रहे हैं, परन्तु ऐसा सिर्फ आधुनिक समाज में ही हो सका है कि वे राष्ट्र बने हैं।

राष्ट्रीय आन्दोलनों के आर्थिक आधार को **लेनिन** ने इस प्रकार स्पष्ट किया :

माल उत्पादन की पूर्ण विजय के लिए जरूरी है कि बुर्जुआ वर्ग घरेलू बाजार पर कब्जा करे, और यह भी जरूरी है कि उसके भौगोलिक क्षेत्र राजनीतिक रूप से इस प्रकार संयुक्त हों कि उनकी आबादी एक ही भाषा बोलती हो, ताकि भाषा के विकास और साहित्य में उसके सुदृढ़ीकरण के रास्ते की सारी बाधाएं दूर रहें। इसी में राष्ट्रीय आन्दोलनों का आर्थिक आधार निहित होता है। भाषा मानवीय अन्तर्क्रिया का सबसे महत्वपूर्ण माध्यम है। भाषा की एकता ओर उसका निर्बाध विकास, आधुनिक पूंजीवाद के अनुरूप एक व्यापक पैमाने पर वास्तविक रूप से मुक्त और व्यापक वाणिज्य के लिए, आबादी के अपने सभी विविधतापूर्ण वर्गों में मुक्त और व्यापक रूप से समूहीकृत होने के लिए, और अन्ततः बाजार और छोटे-बड़े हरेक सम्पत्तिस्वामी के बीच तथा क्रेता और विक्रेता के बीच एक घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण शर्त है। (कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 20, पृ. 396)

शुरू-शुरू में राष्ट्रीय आन्दोलन पश्चिमी यूरोप में उठ खड़े हुए थे। सामन्ती युग के अस्थिर, विषमतापूर्ण राजतंत्रों के भीतर से, मुख्य रूप से सत्रहवीं और अठारहवीं सदियों के दौरान, एक दर्जन स्वतंत्र राज्य अस्तित्व में आ गये। इनमें से ज्यादातर राज्य एकल राष्ट्र-राज्यों के रूप में विकसित हो गये : अर्थात, ऐसे प्रत्येक देश में एक प्रकार की जनता थी, जो एक ही भाषा बोलती थी। केवल ब्रिटिश उपद्वीपों में ही स्वतंत्रता का संघर्ष छेड़ने लायक एक पर्याप्त राष्ट्रीय अल्पसंख्या मौजूद थी। इसीलिए अंग्रेज आयरलैण्ड पर अपनी विजय को सुदृढ़ीकृत करने में असफल रहे, और अठारहवीं सदी के दौरान आयरिश राष्ट्रीय आन्दोलन उठ खड़ा भी हो गया।

लेकिन इन देशों को एकल राष्ट्र राज्य कहते हुए यह ध्यान रखना चाहिए कि इनमें से ज्यादातर तो शुरू से ही समुद्रपारीय औपनिवेशिक साम्राज्य कायम करने में लगे हुए थे। इस तरह जो राष्ट्र पहले स्वयं उत्पीड़ित थे, अब दूसरे देशों की जनताओं के उत्पीड़क बन गये। इसका नतीजा, एक तरफ तो यह हुआ कि उत्पीड़क राष्ट्र का सर्वहारा वर्ग बुर्जुआ वर्ग के खिलाफ अपने संघर्ष में कमजोर पड़ गया, लेकिन दूसरी तरफ, औपनिवेशिक जनताओं के बीच राष्ट्रीय आन्दोलनों का वेग त्वरान्वित भी हो गया।

अब उस पूर्वी यूरोप का जायजा लें जो प्रथम विश्वयुद्ध के कगार पर था। यहां हम देखते हैं कि उस वक्त, **बाल्कन** राज्यों से बाहर, जहां छह छोटे-छोटे राज्य थे (जिनमें से कइयों में तो काफी राष्ट्रीय अल्पसंख्यक जातियां थीं) कोई एकल राष्ट्रीय राज्य था ही नहीं। इस समूचे क्षेत्र में दो बहुराष्ट्रीय राज्य थे, जो अपनी उत्पत्ति के लिहाज से सामन्ती थे और राष्ट्रीय अन्तर्कलहों से बुरी तरह ग्रस्त थे। प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति पर आस्ट्रो-हंगरियाई साम्राज्य कई स्वतंत्र राष्ट्र राज्यों में बिखर गया, और इसी बीच रूसी साम्राज्य एक समाजवादी गणराज्य संघ में तब्दील हो गया, जहां प्रत्येक घटक राज्य को अलग से ले जाने का अधिकार प्राप्त था और जिसमें तमाम छोटे-छोटे ऐसे स्वायत्तशासी क्षेत्र भी शामिल थे जिनमें राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों की अपनी सरकारें थीं।

इस तस्वीर को पूरा करने के लिए जरूरी है कि हम यूरोप से बाहर के दो बड़े राष्ट्र राज्यों को भी शामिल कर लें।

संयुक्त राज्य अमेरिका का गठन पश्चिमी यूरोप से आकर उपनिवेश कायम करने वालों के एक समूह द्वारा हुआ जिन्होंने 1776 में ब्रिटिश शासन से अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। यूरोप के सभी भागों से भारी संख्या में लगातार आने वाले आप्रवासियों की भारी संख्या (नीग्रो और इंडियन लोगों के अतिरिक्त) के बावजूद वहां की आबादी समान अधिकारों और एक ही भाषा के इस्तेमाल के आधार पर एकीकृत है :

हम जानते हैं कि अमेरिका में पूंजीवाद के विकास के लिए खासतौर से अनुकूल परिस्थितियों ने तथा इस विकास की तेज रफ्तार ने एक ऐसी स्थिति पैदा की है जिसमें व्यापक राष्ट्रीय भिन्नताएं तेजी से और बुनियादी तौर पर इस कदर निर्विघ्न बन चुकी हैं कि, वे सब मिलकर एकल 'अमेरिकी' राष्ट्र का रूप ले चुकी हैं, जो सारी दुनिया में बेमिसाल है। (**लेनिन** कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 23, पृ. 276)

जापान में पूंजीवाद का विकास उसी तरह से बाद में हुआ जैसे रूस में लेकिन इसकी रफ्तार इतनी तेज रही कि बुर्जुआ वर्ग बिना किसी व्यवधान के सामन्ती कुलीन तंत्र के साथ घुलमिल गया। जापान गैर यूरोपीय मूल का एकमात्र ऐसा राष्ट्र-राज्य था जो एक बड़ी साम्राज्यवादी शक्ति बना :

पूरे एशिया भर में माल-उत्पादन का सबसे पूर्ण विकास और

पूंजीवाद का सबसे स्वतंत्र व्यापक और तेज विकास एक स्वतंत्र राष्ट्र राज्य के रूप में सिर्फ जापान में हुआ। अत: जापान एक बुर्जुआ राज्य है, और इसी नाते इसने दूसरे राष्ट्रों को उत्पीड़ित करना तथा उपनिवेशों को गुलाम बनाना शुरू कर दिया है। लेकिन हम नहीं कह सकते कि शेष एशिया को, पूंजीवाद के धराशायी होने से पूर्व, यूरोप की भांति स्वतंत्र राष्ट्र राज्यों की एक प्रणाली में विकसित होने का अवसर मिलेगा या नहीं फिर भी यह तथ्य तो निर्विवाद ही है कि पूंजीवाद ने एशिया को जिस तरह से जागृत कर दिया है उससे इस महाद्वीप में भी सर्वत्र राष्ट्रीय आन्दोलन उठ खड़े होंगे ही। (**लेनिन** कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 20, पृ. 399)

लेनिन ने 1916 की वस्तुस्थिति का आकलन और समाहार करते हुए, राष्ट्रीय आन्दोलन के तीन प्रकार चिह्नित किये :

पहला : पश्चिम यूरोप (और अमेरिका) के विकसित देश, जहां राष्ट्रीय आन्दोलन अब अतीत की चीज बन चुका है। दूसरा : पूर्वी यूरोप, जहां यह अभी भी वर्तमान की चीज बना हुआ है। तीसरा : अर्द्ध उपनिवेश और उपनिवेश जहां यह अधिकांश में भविष्य की चीज है। (कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 23, पृ. 38)

और अन्त में, हमें जरूर इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि अलग-अलग राष्ट्र-राज्यों के गठन के अतिरिक्त, यह पूंजीवाद अपने बाद के चरणों में राष्ट्रीय विभाजनों को खत्म कर डालने की दिशा में बढ़ने की ही प्रवृत्ति दिखा रहा है :

विकासशील पूंजीवाद के अन्तर्गत राष्ट्रीय सवाल को लेकर दो ऐतिहासिक प्रवृत्तियां चल रही हैं। इनमें से पहली प्रवृत्ति है राष्ट्रीय जीवन और राष्ट्रीय आन्दोलनों को जागृत होने की और समूचे राष्ट्रीय उत्पीड़न के खिलाफ संघर्ष की और राष्ट्र-राज्यों के गठन की। इसकी प्रवृत्ति है अन्तरराष्ट्रीय घटनाक्रम का प्रत्येक रूप में विकास और बार-बार प्रकट होना, राष्ट्रीय अवरोधों का ध्वस्त होना, पूंजी की, सामान्य आर्थिक जीवन की, राजनीति और विज्ञान आदि की अन्तरराष्ट्रीय एकता कायम होना। ये दोनों ही प्रवृत्तियां पूंजीवाद के ही सार्वभौमिक नियम की प्रवृत्तियां हैं। इनमें से पहली प्रवृत्ति पूंजीवाद के विकास के शुरुआती दौर में हावी रहती है, जबकि दूसरी प्रवृत्ति उस परिपक्व पूंजीवाद की चरित्रगत विशेषता है जो समाजवादी समाज में रूपान्तरण की ओर अग्रसर होता है। (लेनिन, कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 20, पृ. 27)

पूंजी की अन्तरराष्ट्रीय एकता श्रम की भी अन्तरराष्ट्रीय एकता को आवश्यक बना देती है, और जब समाजवादी क्रान्ति द्वारा पूंजी और श्रम के बीच का यह अन्तरविरोध हल कर लिया जाता है, तब राष्ट्रीय विभाजन भी अन्तत: खत्म ही हो जाते हैं :

अब राष्ट्रीय उत्पीड़न, राष्ट्रीय कलह और राष्ट्रीय अलगाव की पुरानी दुनिया के मुकाबले मजदूरों की एक नयी दुनिया है, जो सभी राष्ट्रों की मेहनतकश जनताओं की एकता की दुनिया है, अर्थात यह एक ऐसी दुनिया है जिसमें किसी भी विशेषाधिकार की या मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण की तनिक भी गुंजाइश नहीं है। (लेनिन कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 19, पृ. 92)

2. राष्ट्रीय आत्म-निर्णय

राष्ट्रीय सवाल को लेकर सर्वहारा वर्ग का दृष्टिकोण वही होता है जो उसका बुर्जुआ क्रान्ति के प्रति दृष्टिकोण होता है। सर्वहारा वर्ग सामन्तवाद या साम्राज्यवाद के विरुद्ध अपने संघर्ष में बुर्जुआ वर्ग का समर्थन करता है, और यदि बुर्जुआ वर्ग इस संघर्ष का नेतृत्व करने से परहेज कर जाये, तो स्वयं नेतृत्व संभालने के लिए तैयार रहता है। यह राष्ट्रीयता की परवाह किये बगैर, सभी नागरिकों के लिए समान अधिकारों के बुर्जुआ-जनवादी सिद्धान्त का समर्थन करता है, और इस बात को मान्यता देता है कि एक बहुराष्ट्रीय राज्य के भीतर से पैदा होने वाले राष्ट्रों को अलग होने का अधिकार है :

मजदूर वर्ग द्वारा कायम किया गया एक पूर्ण जनवाद इसलिए आवश्यक है कि भिन्न-भिन्न राष्ट्र शांति और स्वतंत्रता के साथ एक साथ रह सकें या अलग-अलग और भिन्न-भिन्न राज्य बन सकें (यदि ऐसा करना उन्हें अधिक सुविधाजनक लगे)। किसी भी एक राष्ट्र या किसी भी एक भाषा को कोई विशेषाधिकार नहीं, और राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों के मामले में भी तनिक भी उत्पीड़न या नाइंसाफी नहीं— मजदूर वर्ग के जनवाद के ये ही सिद्धान्त हैं। (लेनिन कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 19, पृ.91)

बहरहाल शोषण, मुनाफाखोरी और कलह पर आधारित पूंजीवादी समाज में किसी प्रकार की राष्ट्रीय शांति सिर्फ एक ऐसी सुसंगत और पूर्णत: गणतांत्रिक सरकार प्रणाली के अन्तर्गत ही सम्भव हो सकती है जो सभी राष्ट्रों और भाषाओं को पूर्ण समानता की गारण्टी दे, किसी अनिवार्य सरकारी भाषा को मान्यता न दे, जनता को ऐसे स्कूल मुहैया करे जिनमें शिक्षा स्थानीय भाषाओं में दी जाये, और उसके संविधान में एक ऐसे बुनियादी कानून का विधान रहे, जो किसी भी प्रकार का विशेषाधिकार न दे, तथा राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों के अधिकारों का किसी भी प्रकार से कोई अतिक्रमण न हो सके। (कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 19, पृ. 427)

लेकिन सभी राष्ट्रीयताओं के समान अधिकारों वाले बुर्जुआ-जनवादी सिद्धान्त का समर्थन करते हुए भी, सर्वहारा वर्ग बुर्जुआ वर्ग के खिलाफ इस बात पर जोर देता है कि राष्ट्रीय संघर्ष वर्ग-संघर्ष के मातहत होता है:

बुर्जुआ वर्ग हमेशा ही अपनी राष्ट्रीय मांगों को सबसे आगे रखता है, और वैसा बहुत ही स्पष्ट ढंग से करता है। लेकिन सर्वहारा वर्ग के लिए ये मांगें वर्ग-संघर्ष के हितों के मातहत होती हैं। (लेनिन कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 20, पृ. 410)

शोषण के विरुद्ध सफल संघर्ष की आवश्यकता यह है कि सर्वहारा वर्ग राष्ट्रवाद से मुक्त रहे, और जिस तरह से विभिन्न राष्ट्रों के बुर्जुआ वर्ग के बीच वर्चस्व की लड़ाई चलती रहती है। उस तरह के वर्चस्व की लड़ाई के प्रति पूर्णत: विरक्त रहे। अगर किसी राष्ट्र का सर्वहारा वर्ग के स्वयं अपने बुर्जुआ वर्ग के विशेषाधिकारों को तनिक भी प्रश्रय देता है, तो दूसरे राष्ट्र के सर्वहारा वर्ग के बीच एक अविश्वास अपरिहार्यत: पैदा हो सकता है; इससे मजदूरों की अन्तरराष्ट्रीय वर्ग एकता कमजोर हो सकती है तथा उसमें फूट भी पड़ सकती है जो बुर्जुआ वर्ग के लिए एक खुशी की बात हो सकती है। (कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 20 पृ. 424)

सर्वहारा वर्ग राष्ट्रवाद के प्रति किसी भी महिमामण्डन को कोई समर्थन नहीं दे सकता; इसके विपरीत, वह हर उस चीज का समर्थन करता है जो राष्ट्रीय विभेदों को दूर करने में सहायक हो और राष्ट्रीय अवरोधों को खत्म करें; यह हर उस चीज का समर्थन करता है जो राष्ट्रीयताओं की आपसी बन्धुता को और घनिष्ठ बनाये, या राष्ट्रों के

आपसी विलय को प्रोत्साहित करे। (कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 20, पृ. 35)

अब सवाल उठता है कि यदि सर्वहारा वर्ग राष्ट्रों के आपसी विलय के पक्ष में है तो फिर क्यों यह उनकी स्वतंत्रता के अधिकार को मान्यता देता है? इसलिए कि केवल राष्ट्रीय आकांक्षाओं को पूरा करके ही राष्ट्रीय विभाजनों को खत्म किया जा सकता है :

हम *मुक्त* एकीकरण चाहते हैं, यही कारण है कि अलग होने के अधिकार को मान्यता देना जरूरी है। (उपरोक्त खण्ड 26, पृ. 176)

3. राष्ट्रीय मुक्ति युद्ध

कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल की तीसरी कांग्रेस (1921) में **लेनिन** ने कहा था :

यह पूरी तरह स्पष्ट है कि विश्व क्रान्ति के आसन्न निर्णायक युद्ध में दुनिया की बहुसंख्यक आबादी का आन्दोलन जो आरम्भिक तौर पर राष्ट्रीय मुक्ति की दिशा में निर्दिष्ट है, अन्ततः पूंजीवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध निर्दिष्ट हो जायेगा, और तब यह शायद हमारी उम्मीद से कहीं अधिक ही क्रान्तिकारी भूमिका अदा करने लगेगा। यद्यपि व्यापक मेहनतकश जनसमुदाय—औपनिवेशिक देशों के किसान अभी भी पिछड़े हुए हैं, फिर भी इस तथ्य के बावजूद, वे विश्व क्रान्ति के आगामी चरणों में एक बहुत ही महत्वपूर्ण क्रान्तिकारी भूमिका अदा करेंगे। (उपरोक्त खण्ड 32, पृ. 482)

तबसे (यानी **लेनिन** ने जब यह बात कही थी उसके बाद से - अनु.) पूरे औपनिवेशिक जगत में वर्ग-संघर्ष राष्ट्रीय संघर्ष का रूप ले चुका है और ऐसे राष्ट्रीय मुक्ति युद्धों को जन्म दे चुका है, जिनमें समूची जनता साम्राज्यवादियों और उनके कठपुतलों के खिलाफ एकजुट होती जा रही है। जापान के विरुद्ध प्रतिरोध युद्ध के दौरान चेयरमैन माओ ने कहा : *एक राष्ट्रीय चरित्र वाले संघर्ष में वर्ग संघर्ष राष्ट्रीय संघर्ष का रूप ले लेता है, जो दो चीजों के बीच एकता को प्रदर्शित करता है। परन्तु एक तरफ एक दी गयी ऐतिहासिक अवधि के लिए विभिन्न वर्गों की राजनीतिक और आर्थिक मांगें निश्चय ही ऐसी नहीं होनी चाहिए कि यह एकता भंग हो जाये और दूसरी तरफ राष्ट्रीय संघर्ष की मांगें (जापान का प्रतिरोध करने की आवश्यकता) समूचे वर्ग-संघर्ष का प्रस्थान बिन्दु होनी चाहिए। एकता और स्वतंत्रता के बीच तथा राष्ट्रीय संघर्ष और वर्ग संघर्ष के बीच संयुक्त मोर्चे की यही एकता होती है।* (सलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 2,पृ. 215)

अभी हाल ही में एक-एक करके कई देशों में और सर्वोपरि रूप से वियतनाम में, यह साबित हो चुका है कि एक छोटा और तकनीकी रूप से पिछड़ा राष्ट्र भी **कम्युनिस्ट पार्टी** के नेतृत्व के तहत एक संयुक्त मोर्चे में संगठित होकर तथा जनयुद्ध की चेयरमैन माओ की रणनीति से मार्गदर्शन लेकर सारे साम्राज्यवादी राज्यों में उस सबसे शक्तिशाली राज्य को भी मात दे सकता है, जिसको व्यापक सामरिक हथियारों से लैस करने में एकाधिकारी पूंजीवाद अपनी बेइन्तिहां दौलत बर्बाद करता है।

वियतनाम के मुक्ति-युद्ध को विश्वव्यापी समर्थन मिला है। इस तरह केवल एक देश की जनता का राष्ट्रीय संघर्ष एक ऐसा अन्तरराष्ट्रीय संघर्ष बन चुका है जिसने संयुक्त राज्य अमेरिका समेत अन्य देशों में भी नये राष्ट्रीय संघर्षों को प्रोत्साहित कर दिया है। स्वतंत्रता और समान अधिकारों के लिए अमेरिकी नीग्रो लोगों का संघर्ष स्वयं में एक राष्ट्रीय संघर्ष है जैसा कि **लेनिन** ने स्वीकार किया है:

संयुक्त राज्य अमेरिका में नीग्रो लोगों को एक उत्पीड़ित राष्ट्र की कोटि में ही रखा जाना चाहिए, कारण कि 1861-65 के गृहयुद्ध में जो समानता हासिल की गयी थी और वहां के गणतंत्र के संविधान में इसकी जो गारण्टी की गयी थी, उसकी कई मामलों में 1860-70 के प्रगतिशील प्राक् एकाधिकारी पूंजीवाद से इस नये युग के प्रतिक्रियावादी एकाधिकारी पूंजीवाद (साम्राज्यवाद) में संक्रमण के सिलसिले में प्रमुख नीग्रो क्षेत्रों (दक्षिण) में उत्तरोत्तर कांट-छांटकी जाती रही है। (उपरोक्त, खण्ड 23, पृ. 275)

इसी प्रकार चेयरमैन **माओ** ने इस आन्दोलन को समर्थन देने की अपनी घोषणा करते हुए स्पष्ट किया है कि यह आन्दोलन वर्ग संघर्ष और राष्ट्रीय संघर्ष दोनों ही है :

अमेरिकी नीग्रो लोगों के संघर्ष का तीव्र गति से हो रहा विकास संयुक्त राज्य अमेरिका के भीतर तीखे होते जा रहे वर्ग संघर्ष और तीखे होते जा रहे राष्ट्रीय संघर्ष की ही अभिव्यक्ति है। और अपने अन्तिम विश्लेषण में राष्ट्रीय संघर्ष वर्ग संघर्ष का ही मामला है। वस्तुतः उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद की शैतानी व्यवस्थाा नीग्रो लोगों को गुलाम बनाने और उनका व्यापार करने से ही पैदा हुई और आगे बढ़ी और निश्चय ही इसका खात्मा काले लोगों की पूर्ण मुक्ति के साथ ही हो जायेगा। (स्टेटमेण्ट सपोर्टिंग द अमेरिकन नीग्रोज, 8 अगस्त, 1963)

जैसे-जैसे राष्ट्रीय मुक्ति का संघर्ष फैल रहा है वैसे-वैसे साम्राज्यवादी प्रभुत्व के भीतर बचा क्षेत्र सिकुड़ता जा रहा है, और जैसे-जैसे यह क्षेत्र सिकुड़ रहा है, वैसे-वैसे इसका शोषण भी प्रचण्ड होता जा रहा है जो राष्ट्रीय मुक्ति के नये-नये संघर्षों को जन्म देता जा रहा है। यही वह दुश्चक्र है जिससे साम्राज्यवाद बच नहीं सकता :

अमेरिकी साम्राज्यवाद जो एक विराट दानव प्रतीत होता है, वस्तुतः एक कागजी शेर भर ही है जो अब अपने मरणान्तक संघर्ष के दौर से गुजर रहा है। आज की दुनिया में कौन किससे डरता है? अमेरिकी साम्राज्यवाद से न तो वियतनाम की जनता डरती है, न लाओस की न फिलीस्तीन की, न अरब की और न ही दूसरे देशों की, उल्टे यह तो अमेरिकी साम्राज्यवाद ही है जो दुनिया की जनता से भय खा रहा है। इसकी हालत यह हो गयी है कि अब यह महज हवा में पत्तियों की खड़खड़ाहट से ही दहशत में आ जा रहा है। ढेरों तथ्य इस बात की गवाही करते हैं कि एक न्यायपूर्ण लक्ष्य को भारी समर्थन मिल जाता है। जबकि अन्याय पूर्ण लक्ष्य को बहुत ही कम समर्थन मिल पाता है। इस तरह, एक कमजोर राष्ट्र एक बलवान राष्ट्र को तथा एक छोटा राष्ट्र एक बड़े राष्ट्र को परास्त कर सकता है। एक छोटे देश की जनता, अगर संघर्ष में उठ खड़े होने का साहस करे हथियार उठाने का साहस करे, और अपने देश की नियति को स्वयं अपने हाथों में ले ले, तो वह निश्चय ही एक बड़े देश के हमले को मात दे सकती है। यह इतिहास का नियम है। (**माओ**, 20 मई, 1970 का वक्तव्य)

4. राष्ट्रीय बनाम क्षेत्रीय स्वायत्तता

प्रत्येक राष्ट्र के अलग होने और स्वतंत्र राज्य गठित करने के अधिकार को मान्यता देने का **लेनिन** का मतलब यह नहीं था कि

सर्वहारा वर्ग सभी मामलों में इस अधिकार के लागू किये जाने के पक्ष में हिमायत करने के लिए वचनबद्ध था। बल्कि इसके विपरीत, उनका यह मानना था कि कुछेक मामलों में अलग होने का अधिकार अनुपयुक्त भी हो सकता था:

*राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के अधिकार को (अर्थात, अलग होने के सवाल को हल करने के एक पूर्णत: स्वतंत्र और जनवादी तरीके की संवैधाानिक गारण्टी को) निश्चय ही एक दिये गये राष्ट्र के अलग होने के औचित्य के साथ गड्डमड्ड नहीं करना चाहिए। **सामाजिक-जनवादी पार्टी** को प्रत्येक मामले में निश्चय ही समग्र सामाजिक विकास के हितों तथा समाजवाद के लिए सर्वहारा वर्ग-संघर्ष के हितों के अनुरूप, इस सवाल पर पूरी तरह इसके गुण-दोष के आधार पर ही विचार करना चाहिए।* (लेनिन उपरोक्त, खण्ड 19, पृ. 429)

बेशक, ऐसा भी हो सकता है कि वस्तुगत परिस्थितियों के चलते अलगाव को निषिद्ध कर देना पड़े। वैसे भी कुछ राष्ट्रीयताएं इतनी छोटी या इतनी बिखरी हुई हैं कि एक स्वतंत्र राज्य कायम ही नहीं कर सकतीं। तब, ऐसी स्थिति में जहां अलगाव अनुचित या अव्यावहारिक मालूम पड़े, राष्ट्रीय सवाल को कैसे हल किया जा सकता है?

इस समस्या को हल करने के लिए, जैसा कि **लेनिन** ने स्पष्ट किया है, दो परस्पर विरोधी समाधान हैं—सांस्कृतिक राष्ट्रीय स्वायत्तता वाला बुर्जुआ समाधान और क्षेत्रीय एवं स्थानीय स्वायत्तता वाला सर्वहारा समाधान।

सांस्कृतिक राष्ट्रीय स्वायत्तता के सिद्धान्त के अनुसार, प्रत्येक राष्ट्रीयता के सदस्य एक 'राष्ट्रीय संघ' गठित करते हैं जो शिक्षा समेत उनके सभी सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन का नियंत्रण करता है। इस ढंग से, राष्ट्रीयता के अनुसार अलग-अलग स्कूल हो जाते हैं। इस पर **लेनिन** सवाल उठाते हैं :

क्या आमतौर पर जनवाद की दृष्टि से ताकि खासतौर पर सर्वहारा वर्ग संघर्ष के हितों की दृष्टि से एक ऐसे विभाजन की अनुमति देना उचित होगा?

यदि कोई 'सांस्कृतिक-राष्ट्रीय स्वायत्तता' कार्यक्रम के सारतत्व का एक स्पष्ट अवगाहन करे तो वह बिना किसी हिचकिचाहट के इस सवाल का उत्तर देने में पूरी तरह समर्थ हो सकता है : यानी कि ऐसी अनुमति देना पूरी तरह असम्भव है।

यदि भिन्न-भिन्न राष्ट्र एक ही राज्य में रहते हुए आर्थिक सम्बन्धों से बंधे होते हैं, तब तो उन्हें स्थायी तौर पर 'सांस्कृतिक' और खासतौर पर शैक्षिक मामलों में विभाजित करना बेतुका और प्रतिक्रियावाद ही होगा। इसके विपरीत प्रयास तो यह होना चाहिए कि राष्ट्रों को शैक्षिक मामलों में एकबद्ध किया जाये, ताकि स्कूल वास्तविक जीवन की गतिविधियों की तैयारी के माध्यम सिद्ध हो सकें। वर्तमान समय में हम देख ही रहे हैं कि भिन्न-भिन्न राष्ट्रों में अधिकारों की असमानताएं हैं तथा उनके विकास के स्तर में भी असमानताएं हैं। तब ऐसी परिस्थिति में, स्कूलों को राष्ट्रीयता के अनुसार अलग-अलग करना वास्तव में और अपरिहार्य रूप से, अधिक पिछड़े राष्ट्रों की दशाओं को और खराब करना ही होगा।

स्कूलों को राष्ट्रीयता के अनुसार अलग-अलग करना सिर्फ एक हानिकारक योजना ही नहीं है, बल्कि यह पूंजीपतियों के हक में की जाने वाली एक प्रत्यक्ष धोखाधड़ी भी है। इस प्रकार के विचार की हिमायत करने से, तथा इससे भी आगे बढ़कर राष्ट्रीयता के अनुसार जनसाधारण के स्कूलों को अलग-अलग करने से, मजदूरों में फूट पड़ सकती है, विभाजन हो सकता है और उनकी ताकत कमजोर पड़ सकती है, परन्तु इसके विपरीत पूंजीपतियों को 'सांस्कृतिक-राष्ट्रीय स्वायत्तता' के जरिये किसी भी विभाजन या कमजोरी का शिकार होने का किसी भी प्रकार से कोई खतरा नहीं हो सकता, कारण कि उनके बच्चों के लिए साधन-सम्पन्न निजी स्कूल है, और खासतौर से ट्यूटर भी उपलब्ध हैं। (उपरोक्त खण्ड 19, पृ. 503-505)

इस प्रकार सांस्कृतिक-राष्ट्रीय स्वायत्तता का प्रभाव मजदूरों को विभाजित कर देने तथा ऐसा करके उन्हें और मुकम्मल ढंग से बुर्जुआ वर्ग के नियंत्रण में ला देने के रूप में ही पड़ सकता है।

इसके विरोध में लेनिन ने क्षेत्रीय और स्थानीय स्वायत्तता का सिद्धान्त पेश किया। उन्होंने कहा कि सच्ची राष्ट्रीय समानता का तकाजा है :

*व्यापक क्षेत्रीय स्वायत्तता और पूर्ण जनवादी स्वशासन, जिसके तहत स्वशासी और स्वायत्त क्षेत्रों की सीमाएं आबादी की आर्थिक और सामाजिक दशाओं और राष्ट्रीय व्यवस्थिति आदि के आधार पर स्थानीय निवासियों द्वारा निर्धारित की जाये। (**कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 19, पृ. 427**) राष्ट्रीय उत्पीड़न को खत्म करने के लिए, स्वायत्त क्षेत्रों का निर्माण बहुत महत्वपूर्ण है चाहे वे क्षेत्र कितने भी छोटे क्यों न हों लेकिन उनकी आबादियां पूरी तरह एकसार हों, ताकि पूरे देश में या यहां तक कि पूरी दुनिया भर में बिखरी हुई उनसे सम्बन्धित राष्ट्रीयताएं उनकी ओर आकर्षित हो सकें, और उनके साथ वे हर प्रकार के सम्बन्ध और स्वतंत्र साहचर्य बना सकें।* (कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 20, पृ. 50)

स्थानीय स्वायत्तता के सिद्धान्त में ये बातें भी शामिल हैं :

राज्य और स्वशासन के स्थानीय अंगों के खर्च पर इस उद्देश्य से स्थापित किये जाने वाले स्कूलों में जनता को अपनी स्थानीय भाषा में शिक्षा पाने का अधिकार; प्रत्येक नागरिक को बैठकों में अपनी स्थानीय भाषा इस्तेमाल करने का अधिकार; स्थानीय भाषा की सभी स्थानीय रूप से सार्वजनिक एवं राजकीय संस्थाओं में इस्तेमाल; अनिवार्य सरकारी भाषा का खात्मा। (कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 24, पृ. 472)

उपर्युक्त आखिरी बात के सिलसिले में **लेनिन** का यह भी कहना है :

*आर्थिक विनिमय की जरूरतें अपने आप ही यह तय कर देती हैं कि एक दिये गये देश की किस भाषा की जानकारी वाणिज्यिक सम्बन्धों के हित में बहुसंख्यक आबादी के लिए लाभदायक है। (**कलेक्टेड वर्क्स**, खण्ड 19 पृ. 355) क्या एक 'सरकारी भाषा' एक ऐसी छड़ी नहीं है जो जनता को रूसी भाषा से दूर भगा सकती है। आप इस मनोविज्ञान को समझते क्यों नहीं जो राष्ट्रीय सवाल के लिए इतना महत्वपूर्ण है, और जो तनिक भी बल प्रयोग करने पर केन्द्रीकरण, बड़े राज्यों और एक समान भाषा के असंदिग्ध प्रगतिशील महल को दूषित, गंदा और निष्प्रभावी बन सकता है?* (कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 19, पृ. 499)

लेकिन यहां बड़े औद्योगिक केन्द्रों की समस्या अभी भी बनी हुई है, जहां पर आबादी आवश्यक रूप से विषमांग है, जो देश के सभी भागों से तथा समुद्र पार के देशों से आाकर बसी हुई है, और साथ ही आपस में इतनी घुली-मिली हुई है कि स्थानीय स्वायत्तता

का सिद्धान्त पूर्ण राष्ट्रीय समानता सुनिश्चित करने में अक्षम ही सिद्ध होगा। ***लेनिन*** के समय में यह पहले से ही एक विश्वव्यापी समस्या बनी हुई थी :

इस बात में कोई सन्देह नहीं हो सकता कि बेपनाह गरीबी अकेले ही एक ऐसी वजह है जो लोगों को अपनी जन्मभूमि छोड़ने पर मजबूर कर देती है, और कि पूंजीपति आप्रवासी मजदूरों का निहायत बेशर्मी से शोषण करते हैं। तब फिर केवल प्रतिक्रियावादी ही राष्ट्रों के इस आधुनिक प्रव्रजन के इस तथाकथित प्रगतिशील महत्व की ओर से आंखें मूंद सकते हैं। (कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 19, पृ. 454)

1911 में स्कूली जनगणना के विवरणों के हवाले से, **लेनिन** यह टिप्पणी करते हैं :

सेंट पीटर्सबर्ग जैसे बड़े शहर की आबादी का अत्यन्त मिला-जुला राष्ट्रीय संघटन अपने आप में ही एक सबूत है। यह कोई आकस्मिक बात नहीं, बल्कि यह तो पूंजीवाद के ही उस नियम का परिणाम है जो सभी महाद्वीपों में और दुनिया के सभी भागों में कार्यरत है। बड़े शहरों में, फैक्टरी-केन्द्रों में, धातुकर्म सम्बन्धी, रेलवे सम्बन्धी तथा वाणिज्यिक और औद्योगिक केन्द्रों में, आमतौर पर, और निश्चय ही अन्य किसी भी स्थान की अपेक्षा कहीं अधिक मिली-जुली आबादियां होती हैं और मुख्य रूप से यही केन्द्र अन्य दूसरे क्षेत्रों की अपेक्षा कहीं अधिक तेजी से विकास करते हैं तथा पिछड़े ग्रामीण क्षेत्रों से भारी से भारी संख्या में वहां के बाशिन्दों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। (कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 19, पृ. 532)

इस प्रकार उनकी तजबीज है कि यदि सेंट पीटर्सबर्ग में सांस्कृतिक-राष्ट्रीय स्वायत्तता के सिद्धान्त को लागू किया गया होता, तो 23 से कम ''राष्ट्रीय संघ'' नहीं बनाने पड़े होते, और इनमें से प्रत्येक के लिए अलग-अलग स्कूल खोलने पड़े होते; फिर वह आगे कहते हैं :

आमतौर पर जनवाद के और खासतौर पर मजदूर वर्ग के हितों की अपेक्षाएं एक दूसरे के बहुत विपरीत पड़ती हैं। अत: हमें निश्चय ही प्रत्येक स्थानीय क्षेत्र के एक समान स्कूलों में सभी राष्ट्रीयताओं के बच्चों का शामिल होना सुनिश्चित करने की कोशिश करनी चाहिए। हमारा यह काम नहीं है कि शिक्षा के मामले में राष्ट्रों को किसी न किसी भांति एक दूसरे से अलग ही कर दें; बल्कि इसक विपरीत, हमें निश्चय ही समान अधिकारों के आधार पर शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की बुनियादी जनवादी परिस्थितियों को तैयार करने की कोशिश करनी चाहिए। (कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 19, पृ. 532)

इस प्रकार हम देखते हैं कि यहां भी सही समाधान जनवाद के पूर्णतम विस्तार में ही निहित है। **लेनिन** इसे एक निहायत विषम उदाहरण लेकर समझाते हैं। इस बात को मद्देनजर कि सेंट पीटर्सबर्ग की स्कूली आबादी में एक जार्जियाई बच्चा भी था, वह कहते हैं :

कोई हमसे पूछ सकता है कि क्या समान अधिकारों के आधार पर सेंट पीटर्सबर्ग के 48,076 स्कूली बच्चों में से सिर्फ एक जार्जियाई बच्चे के हितों की रक्षा कर पाना संभव है। इस पर हमारा उत्तर यह है कि जार्जियाई 'राष्ट्रीय संस्कृति' के आधार पर सेंट पीटर्सबर्ग में एक स्पेशल जार्जियाई स्कूल स्थापित करना असम्भव है। लेकिन यदि हम इस बच्चे के लिए जार्जियाई भाषा, जार्जियाई इतिहास आदि पर व्याख्यानों की मुफ्त सरकारी सुविधाओं, सेण्ट्रल लाइब्रेरी से जार्जियाई किताबों, जार्जियाई अध्यापक रखने पर सरकार द्वारा उसका वेतन दिये जाने आदि की मांग करें तो यह किसी भी हानिकर चीज का पक्षपोषण करना या किसी असम्भव चीज के लिए प्रयास करना नहीं कहा जा सकता। एक वास्तविक जनवाद के अन्तर्गत लोगों को ये चीजें तो बड़ी आसानी से उपलब्ध हो सकती हैं। लेकिन यह वास्तविक जनवाद सिर्फ तभी हासिल हो सकता है जब सभी राष्ट्रीयताओं के मजदूर एक हों। (कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 19, पृ. 533)

5. राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय संस्कृति

बुर्जुआ वर्ग का हमेशा ही दोहरा चरित्र रहा है, अतीत के सम्बन्ध में क्रान्तिकारी और भविष्य के सम्बन्ध में प्रतिक्रान्तिकारी और पूंजीवाद की इस अन्तिम अवस्था में आकर इस अन्तरविरोध का नकारात्मक पहलू ही प्रभावी बन चुका है। जिस वर्ग ने कभी राष्ट्रीय स्वतंत्रता की लड़ाई का नेतृत्व किया था वही अब दूसरे राष्ट्रों पर अपना शासन लाद रहा है। जो संस्कृति पहले जीवन और ओज से भरपूर थी, अब वही अपनी अधीनस्थ जनता की राष्ट्रीय आकांक्षाओं को कुचल डालने वाला एक मुर्दा भार बन चुकी है। और कुछ मामलों में तो स्वयं जनता का ही भौतिक रूप से मूलोच्छेदन कर दिया गया है, जैसे अमेरिकी इण्डियनों और आस्ट्रेलियाई आदिवासियों का। कुछ दूसरे मामलों में जनता को गुलाम बनाकर उसकी संस्कृति का सफाया कर दिया गया है जैसे **दक्षिण अफ्रीकी बान्तुस** संस्कृति का। और जगहों पर इससे भी बारीक हथकण्डे अपनाये गये हैं :

साम्राज्यवादियों ने चीनी जनता के दिमाग को विषाक्त बनाने के अपने प्रयास में कभी कोई कसर नहीं छोड़ी है। यही उनकी सांस्कृतिक आक्रमण की नीति है। और यह सब मिशनरी कामों के जरिये, अस्पताल और स्कूल स्थापित करने के जरिये, अखबारों का प्रकाशन करने के जरिये तथा चीनी छात्रों को विदेश जाकर पढ़ने का उकसावा देकर किया गया है। इसका मकसद ऐसे बुद्धिजीवियों को प्रशिक्षित करना है जो उनके हितों की सेवा करें और स्वयं अपनी जनता को ठगते रहें। (माओ सलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 2, पृ. 312)

ठीक यही दोहरापन उत्पीड़ित राष्ट्रों के बुर्जुआ वर्ग में भी देखने को मिलता है, जो राष्ट्रीय स्वतंत्रता की इच्छा और समाजवाद के भय के बीच झूलता रहता है, और ऐसा करते हुए, यूनान और आयरलैण्ड की भांति, हमेशा ही अपनी सांस्कृतिक विरासत का सौदा करने के लिए तैयार रहता है :

'हम सर्वहारा वर्ग के लोग दर्जनों बार देख चुके हैं कि कैसे बुर्जुआ वर्ग का सामना जब सर्वहारा वर्ग से होता है तो वह (यानी बुर्जुआ वर्ग - अनु.) स्वतंत्रता, मातृभूमि, भाषा और राष्ट्र सबके साथ *गद्दारी कर जाता है।* (**लेनिन कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड** 6, पृ. 462)

तब इसका मतलब यह हुआ कि राष्ट्रीय संस्कृतियों के कुल योग के तौर पर विश्व संस्कृति का भविष्य अन्तरराष्ट्रीय सर्वहारा के ही हाथों में है। यह भविष्य कैसा होगा? इस सवाल का उत्तर, सामान्य शब्दों में, **लेनिन** और **माओ त्से-तुङ** दोनों ने ही दिया है :

जनवादी और समाजवादी संस्कृति के तत्व भले ही अपने आदिम रूप में ही क्यों न सही, लेकिन हरेक राष्ट्रीय संस्कृति में मौजूद हैं, कारण कि प्रत्येक राष्ट्र में मेहनतकश और शोषित जनसमुदाय हैं ही, जिनकी जीवन दशाएं अपरिहार्यत: जनवाद और समाजवाद की विचारधारा को जन्म देती है। लेकिन हरेक राष्ट्र की एक बुर्जुआ संस्कृति भी है (और ज्यादातर राष्ट्र ऐसी प्रतिक्रियावादी और साथ ही पादरीवादी

संस्कृति वाले ही हैं) जो केवल रूप में ही नहीं, केवल 'तत्वों' के रूप में ही नहीं बल्कि प्रभुत्वशाली संस्कृति है। अत: सामान्य राष्ट्रीय संस्कृति जमींदारों, पादरियों और बुर्जुआ वर्ग की ही संस्कृति है...।

जब हम 'जनवाद और वैश्विक मजदूर वर्गीय आन्दोलन की अन्तरराष्ट्रीय संस्कृति' का नारा देते हैं, तो हम प्रत्येक राष्ट्रीय संस्कृति से केवल उसके जनवादी और समाजवादी तत्वों को ही ग्रहण करते हैं, उन्हें हम प्रत्येक राष्ट्र के केवल और पूर्णत: बुर्जुआ संस्कृति और बुर्जुआ राष्ट्रवाद के विरोध में ही ग्रहण करते हैं। (लेनिन)

हम कह चुके हैं कि वर्तमान चरण में चीन की संस्कृति सर्वहारा नेतृत्व के अन्तर्गत जनसमुदायों की एक साम्राज्यवाद विरोधी और सामन्तवााद विरोधी संस्कृति है। आज कोई भी चीज जो सचमुच जनता की है, निश्चय ही सर्वहारा के नेतृत्व में होनी चाहिए। और जो चीज बुर्जुआ वर्ग के नेतृत्व में है, वह जनसमुदायों की कदापि नहीं हो सकती। स्वभावत: ठीक यही बात नये साहित्य और नयी कला पर भी लागू होती है जो इस नयी संस्कृति के ही अंग हैं। हमें चीन की और दूसरे देशों की पिछले युगों से चली आ रही साहित्य और कला की अच्छी परम्पराओं की समृद्ध विरासत को जरूर अपनाना चाहिए। परन्तु तब भी इसका मकसद निश्चित तौर पर जन समुदायों की सेवा करना ही होना चाहिए। हम अतीत के साहित्यिक और कलात्मक रूपों के इस्तेमाल से परहेज नहीं करते, बल्कि हम इन पुराने रूपों को अपने हाथ में लेकर फिर से इस प्रकार संस्कारित करते और नयी अन्तर्वस्तु से भर देते हैं कि ये भी जनता की सेवा में क्रान्तिकारी बन जाते हैं। (माओ सलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 3, पृ.76)

भविष्य की सर्वहारा संस्कृति अपनी अन्तर्वस्तु में अन्तरराष्ट्रीय और अपने रूप में राष्ट्रीय होगी। यह अपनी अन्तर्वस्तु में अन्तरराष्ट्रीय होने के नाते एकसार होगी, क्योंकि यह सभी राष्ट्रों के जनसमुदायों के सामान्य समाजवादी दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करेगी। और यह अपने रूप में राष्ट्रीय होने के नाते विविध रूपों वाली होगी, क्योकि वह दृष्टिकोण (सामान्य समाजवादी दृष्टिकोण - अनु.) प्रत्येक राष्ट्र की भाषा, रिवाजों और परम्पराओं द्वारा निर्धारित ठोस-ठोस रूपों में इस्तेमाल होगा :

माओ त्से-तुङ ने कहा है :

चूंकि चीनी कम्युनिस्ट महान चीनी राष्ट्र के अंग हैं, उसी के मांस और रक्त है, इसलिए उनसे चीनी विशिष्टताओं से रहित किसी अलग-थलग मार्क्सवाद की बात कहना महज एक हवाई मार्क्सवाद होगा, खोखला मार्क्सवाद। इसी नाते चीन में मार्क्सवाद को इस प्रकार ठोस रूप से लागू करना कि उसकी हरेक अभिव्यक्ति एक असंदिग्ध चीनी विशिष्टता लिए हुए हो, यानी कि मार्क्सवाद को चीन की अपनी विशिष्ट खासियतों की रोशनी में लागू करना एक समस्या बन जाता है, जिसे समझना और हल करना पूरी पार्टी की फौरी जरूरत है। विदेशी स्टीरियोटाइपों को खत्म करना होगा, खाली, अमूर्त धुनों पर गाने गाना कम होना चाहिए और कठमुल्लावाद का खात्मा किया जाना चाहिए। उसकी जगह ताजगी भरी, जीवन्त शैली और भावना को लेनी चाहिए जिसे आम चीनी जनता पसन्द करती है। राष्ट्रीय रूप से अन्तरराष्ट्रीय अन्तर्वस्तु को अलग करना उन लोगों को व्यवहार है जो अन्तरराष्ट्रीयतावाद के बारे में कुछ भीं नहीं जानते। (संकलित रचनाएं भाग 2)

यहां अध्यक्ष माओ पार्टी प्रचार के बारे में बात कर रहे हैं लेकिन जो कुछ वह कहते हैं वह संस्कृति पर भी उतना ही लागू होता है, और केवल चीनी संस्कृति पर ही नहीं बल्कि सभी छोटे-बड़े पुराने और नये राष्ट्रों की संस्कृति पर भी लागू होता है, उन राष्ट्रों पर भी जो साम्राज्यवाद द्वारा विनाश के कगार पर पहुंचा दिये गये हैं और जिन्हें समाजवाद ही बचायेगा। इस तरह सर्वहारा संस्कृति बुर्जुआ संस्कृति से ज्यादा समृद्धि होगी और अनन्त रूप से ज्यादा विविधतापूर्ण होगी।

सन्दर्भ

लेनिन (सम्पूर्ण रचनाएं – CW)

CW 6.454-63	हमारे कार्यक्रम में राष्ट्रीयता का प्रश्न, 1903
CW 19.417-31	रूसी सामाजिक-जनवादी मजदूर पार्टी की केन्द्रीय कमेटी और पार्टी पदाधिकारियों की संयुक्त काफ्रेन्स के प्रस्ताव, 1913
CW 19.91-92	मजदूर वर्ग और राष्ट्रीयता का प्रश्न, 1913
CW 19.354-57	भाषा के प्रश्न पर लिबरल और डेमोक्रेट, 1913
CW 19.454-57	पूंजीवाद और मजदूरों का उत्प्रवासन, 1913
CW 19.499-502	एस.जी. शाहूम्यान को पत्र, 1913
CW 19.503-07	''सांस्कृतिक-राष्ट्रीय'' स्वायत्तता, 1913
CW 19.531-33	रूसी स्कूलों में विद्यार्थियों की राष्ट्रीयता, 1913
CW 20.17-51	राष्ट्रीयता के प्रश्न पर आलोचनात्मक टिप्पणियां, 1913
CW 20.393-454	राष्ट्रीयताओं का आत्मनिर्णय का अधिकार, 1914
CW 23.28-76	मार्क्सवाद का विद्रूप और साम्राज्यवादी अर्थवाद, 1916
CW 23.271-77	सांख्यिकी और समाजवाद, 1917
CW 24.455-79	पार्टी कार्यक्रम के संशोधन से सम्बन्धित सामग्री, 1917
CW 32.478-96,	कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की तीसरी कांग्रेस : आर. सी.पी. की कार्यनीतियों की रिपोर्ट, 1921

माओ त्से-तुङ (संकलित रचनाएं – SW)

CW 2.213-17	संयुक्त मोर्चे के भीतर स्वतंत्रता और स्वायत्ता का प्रश्न, 1938
SW 2.195-211	राष्ट्रीय युद्ध में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की भूमिका, 1938
SW 2.305-34	चीनी क्रान्ति और चीनी कम्युनिस्ट पार्टी, 1939
SW 3.69-98	येनान कला साहित्य गोष्ठी में भाषण, 1942

''लेनिन के अधूरे ग्रन्थ के पन्ने रूस में ही नहीं, सर्वत्र लिखे जा रहे हैं। विप्लव होंगे, परिवर्तन की धाराएं घूमेंगी, पुराने आततईपन पर गाज गिरेगी।'' –गणेश शंकर विद्यार्थी

रघुनाथ सिंह कुशवाहा
सहायक प्रशिक्षक (मत्स्य)
कृषि विज्ञान केन्द्र
धमोरा, रामपुर-243701 (उ.प्र.)

संगीत चिन्तन

मजदूर वर्गीय संगीत की समस्याएं

हान्स आइसलर के साथ बातचीत

हांस आइसलर महान जर्मन संगीतकार और संगीत चिन्तक थे। बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक के सर्वाधिक प्रतिभावान युवा संगीतकारों में उन्हें गिना जाता था। लेकिन आइसलर ने बुर्जुआ विचारधारा और कला-धाराओं को खारिज किया और अपनी सृजनात्मक क्षमताएं हिटलर-पूर्व जर्मनी में क्रान्तिकारी मजदूर वर्ग के आन्दोलन को समर्पित कर दीं। इसी दौरान उन्होंने बेर्टोल्ट ब्रेष्ट के साथ मिलकर काम शुरू किया और यह भागीदारी इन दोनों महान कलाकारों के जीवन-पर्यन्त चलती रही। 1933 में आइसलर को नाजी जर्मनी छोड़ना पड़ा लेकिन उनके संगीत सृजन में या फासिस्ट-विरोधी और प्रगतिशील समूहों के साथ उनके काम में कोई कमी नहीं आई। अमरीका में दस वर्ष तक निर्वासन में रहने के दौरान उन्होंने फिल्मों के लिए संगीत तैयार किया, संगीत शिक्षण किया और व्याख्यान देते रहे। मैकार्थी के दौर में उन्हें वाशिंगटन में हाउस कमिटी ऑन अन-अमेरिकन एक्टिविटीज़ के सामने बुलाया गया जिसका एक ही उद्देश्य था, कम्युनिस्टों या उनसे सहानुभूति रखने वालों को प्रताड़ित करना। 1948 में वे यूरोप चले गये और फिर 1950 से मृत्युपर्यन्त पूर्वी जर्मनी में रहे। 1960 के दशक के उत्तरार्द्ध में जब पश्चिम की युवा, प्रगतिशील पीढ़ी ने ब्रेष्ट के बहिष्कार को तोड़ा तो आइसलर भी वहां के संगीत पंडितों के लिए ''सम्मानीय'' हो गये। 'टाइम्स लिटरेरी सप्लीमेंट' में प्रकाशित एक लेख में डेविड ड्रू ने लिखा है : ''उनके निबन्धों और व्याख्यानों में द्वन्द्वात्मक पद्धति पर ऐसी महारत और भाषा पर ऐसी पकड़ दिखती है, इतने विस्तृत सन्दर्भ और ऐसी विदग्धता मिलती है कि खुद को याद दिलाना पड़ता है कि वह मूलत: एक संगीतकार थे।''

आइसलर का यह इंटरव्यू जून 1935 में स्त्रासबोर्ग से प्रकाशित फ्रेंच पत्रिका L'Humanite d'Alsace में प्रकाशित हुआ था।

श्री आइसलर, आज इस समय में जब बड़ी-बड़ी घटनाएं और परिवर्तन घटित हो रहे हैं और व्यक्तियों तथा विचारों का पुनर्मूल्यांकन हो रहा है, मजदूर वर्गीय संगीत आन्दोलन को आप किस स्थिति में पाते हैं?

मजदूर वर्गीय संगीत आन्दोलन निश्चित रूप से सर्वहारा के सांस्कृतिक जीवन में बड़ी भूमिका निभाता है। लेकिन हमें यह स्वीकार करना होगा कि यह अभी पूरे मजदूर वर्गीय आन्दोलन के स्तर पर नहीं पहुंचा है। कई मजदूर वर्गीय संगीत संगठन और वृदंगान मंडलियां जो संगीत प्रस्तुत करती हैं वह पुराना पड़ चुका है और आज के राजनीतिक संघर्ष के साथ कदम मिलाकर नहीं चल रहा है या यहां तक कि उसके खिलाफ जाता है। इसलिए हम अक्सर पाते हैं कि कई ऐसे अच्छे संगठन हैं जिनकी गतिविधियां मेहनतकश जनता के प्रगतिशील तबकों की वर्ग चेतना से मेल नहीं खाती हैं।

क्या नया क्रान्तिकारी संगीत उल्लेखनीय परिमाण में मौजूद है?

जितना आम तौर पर जाना जाता है, उससे ज्यादा ही। इसमें बहुत कम के बारे में ही पता है, इसका कारण बुर्जुआ संगीत उद्योग का षड्यंत्र है। आधुनिक क्रान्तिकारी संगीत को लोकप्रिय बनाना हमारा जरूरी काम है ताकि पीछे रह गई शक्तियां आगे बढ़कर अग्रगामी तत्वों के साथ आ सकें।

क्या विभिन्न संघों के लिए यह उपयोगी नहीं रहेगा कि आप आधुनिक क्रान्तिकारी संगीत के कुछ प्रतिनिधियों का उल्लेख करें?

अमेरिका में जेकब शैफर हैं जो शायद सबसे महत्वपूर्ण संगीतकारों में से एक हैं। वह एक बढ़ई थे जो एक शानदार संगीतकार और संगीत निर्देशक के रूप में विकसित हुए हैं। उनमें असाधारण प्रतिभा है। उन्होंने सामान्य जन गीतों से लेकर बड़े गान तक रचे हैं। इसके अलावा अमेरिका में कॉपलैंड, रिएगर, सीगर, स्विक्ट, कॉवेल जैसे अन्तरराष्ट्रीय प्रतिष्ठा वाले संगीतकार और अन्य बहुत से लोग हैं जो मुख्यत: आधुनिक बुर्जुआ संगीत के दायरे से आते हैं लेकिन जिन्होंने मजदूर वर्ग के आन्दोलन के लिए अनेक अत्यन्त मूल्यवान और दिलचस्प कृतियां तैयार की हैं। इंग्लैण्ड में प्रसिद्ध आधुनिक संगीतकार एलन बुश हैं जो कि लंदन की रॉयल एकेडमी ऑफ म्यूजिक में प्रोफेसर हैं। वह मजदूरों की एक वृंदगान मंडली चलाते हैं। उन्होंने आन्दोलन के लिए कुछ बेहतरीन रचनाएं तैयार की हैं और उन्हें आम तौर पर युवा अंग्रेजी संगीत का सबसे महत्वपूर्ण प्रतिनिधि माना जाता है। फ्रांस में दारियस मिल्हौद और होनेगर हमारे आन्दोलन के साथ सहानुभूति रखते हैं। एलोइस हाबा और एर्विन शुल्हॉफ चेकोस्लोवाकिया में हमारे आन्दोलन के सबसे महत्वपूर्ण प्रतिनिधि हैं। उदाहरण के लिए शुल्हॉफ ने ''एकजुट'' हो!'' शीर्षक से एक बड़ा वृंदगान रचा है। इस वृंदगान में 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' के अंश पाठ के बतौर इस्तेमाल किये गये हैं। डेनमार्क के युवा संगीत निर्देशक मॉर्टेनसन और मास्को में रह रहे प्रतिभावान हंगेरियाई संगीतकार फेरेंक साबो भी मजदूरों के संगीत के महत्वपूर्ण अन्तरराष्ट्रीय प्रतिनिधि हैं। साबो का संगीत सोवियत संघ में बेहद लोकप्रिय है। सोवियत संगीतकारों में शास्ताकोविच का जिक्र पहले किया जाना चाहिए। वह अपने दौर के सबसे प्रतिभाशाली संगीतकारों में से एक हैं और उन्होंने दुनियाभर में काफी उत्साह जगाया है। वह अब भी बहुत युवा हैं और हम उनसे शानदार चीजों की आशा कर सकते हैं। ये तो बस कुछ ही नाम हैं। मैं और बहुत से नाम बता सकता हूं जो और भी युवा हैं और जो आन्दोलन को आगे बढ़ाने में मदद कर सकते हैं। दुर्भाग्यवश मेहनतकश जनता के व्यापक हिस्सों में इन

संगीतकारों की कृतियों की पर्याप्त जानकारी नहीं है।

क्या तकनीकी दिक्कतें भी इस आधुनिक क्रान्तिकारी संगीत को लोकप्रिय होने से नहीं रोकती हैं?

हां। इन कारणों से जबर्दस्त दिक्कतें हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का परम्परागत रोमांटिक संगीत इतना ज्यादा प्रचलित है कि मजदूर वर्गीय गायकों और वादकों का एक खास किस्म का संगीत का स्वाद और आदत बन गई है। यह आधुनिक संगीत रचनाओं की प्रस्तुति में मदद नहीं करता बल्कि बाधा डालता है। उदारहरण के लिए वर्षों से 'फ्रीडम, वी अवेट दी' (आजादी, हमें तुम्हारी प्रतीक्षा है) या 'दि पेल वाटरलिली' जैसी रचनाएं गा रही कोई वृंदगान मंडली एकसुर वाला संगीत गाने की इतनी आदी हो चुकी होती है कि जब बहुसुरीय संगीत की ओर बदलाव करना पड़ता है तो उन्हें बहुत कठिनाई होती है। ऐसा नहीं है कि हमेशा मजदूर वर्गीय गायक या वादक ही आधुनिक मजदूर संगीत को समझ नहीं पाते। अक्सर ही वृंदगान के निर्देशक की समझदारी के अभाव के चलते आधुनिक समूहगानों की प्रस्तुति बाधित होती है। इसका कारण भी समझा जा सकता है लेकिन आधुनिक क्रान्तिकारी मजदूर वर्गीय संगीत को व्यापक स्तर पर लोकप्रिय बनाना संगीत में लगे इन लोगों की शिक्षा पर निर्भर करता है। यह नया संगीत मजदूर वर्ग के राजनीतिक संघर्ष के पूरी तरह अनुकूल है और इसके लिए उपयोगी है।

निस्सन्देह वृंदगान समूहों के निर्देशकों का शैक्षिक विकास बहुत जरूरी है लेकिन क्या यह मजदूर वर्गीय गायकों और वादकों के दृष्टिकोण पर निर्भर नहीं करता?

यह भी एक प्रमुख प्रश्न है। एक क्रान्तिकारी मजदूर वर्गीय गायक या वादक को पहले यह सीखना चाहिए कि महज प्रशंसक या पुजारी बनने के बजाय कला के मामलों में आलोचनात्मक रुख कैसे अपनाया जाये। उसे बस 'सुन्दरता'' से मुग्ध नहीं हो जाना चाहिए बल्कि खुद से यह प्रश्न करना चाहिए कि क्या यह उसे या उसके वर्ग को मदद पहुंचाती है, या बेकार है या यहां तक कि नुकसानदेह है। जैसे हम राजनीतिक जीवन में कामरेडों से आलोचनात्मक सोच की मांग करते हैं, वैसे ही हमें कला में भी आलोचनात्मक सोच की मांग करनी चाहिए।

आपने पुराने पड़ गये संगीत की चर्चा की है। आपके ख्याल से एक औसत अल्सास-लोरेन या स्विस वृंदगान समूह या संगीत मंडली के कार्यक्रम में कौन सी चीज पुरानी पड़ गयी है?

अगर हम कार्यक्रमों को देखें तो हम कई संगीत रचनाएं ऐसी पायेंगे जो मेरे विचार से बहुत खराब हैं और पुरानी पड़ गई हैं। उदाहरण के लिए ढेर सारे असाधारण रूप से मूर्खतापूर्ण वीर रस की मार्चिंग धुनें हैं या घटिया संगीतकारों के पुराने किस्म के पूर्वसंगीत हैं। ये हर तरह से संगीत का जायका बिगाड़ने की कुव्वत रखते हैं। वृंदगान साहित्य का तो और बुरा हाल है। ये उबकाई पैदा करने वाले पाठ हैं जो कहते कुछ नहीं हैं और ऊपर से इनकी धुनें भी पाखण्डपूर्ण धूमधड़ाके वाली हैं।

अस्सी समूहगायक मंच पर आते हैं और पिघलती सी आवाज में गाते हैं ''मुझे तुम्हारा इंतजार है...''—इस दृश्य की कल्पना भी मेरे लिए एक दु:स्वप्न की तरह है। इसके बाद आते हैं ये तमाम प्रकृति के मूड, ये झूठे लोकगीत, संक्षेप में, खराब संगीत और झूठे शब्द।

आपक जवाब से यह भी नतीजा निकाला जा सकता है कि आप लोकगीतों के खिलाफ हैं!

मैं आम तौर पर सभी लोकगीतों के खिलाफ नहीं हूं। पहली बात, दो तरह के लोकगीत हैं, वास्तविक और झूठे। वास्तविक लोकगीत पिछली शताब्दियों में खुद लोगों के बीच से जन्मा था। झूठा लोकगीत घटिया और भ्रष्ट मनोरंजन उद्योग का उत्पाद है जो वास्तविक लोकगीत का मुहावरा ''उधार'' लेता है लेकिन एक भोंड़े और विकृत रूप में। हमें इस झूठे लोकगीत का मुकाबला करना है क्योंकि यह भयंकर है।

दूसरी ओर वास्तविक लोकगीत अत्यन्त मूल्यवान हो सकते हैं, पाठ की दृष्टि से भी और संगीत की दृष्टि से भी। ये वास्तविक लोक संस्कृति के अंग है। लेकिन यहां भी हमें आलोचनात्मक दृष्टिकोण अपना होगा। जिस ढंग से बुर्जुआ शोधकर्ताओं ने इन गीतों को पेश किया है उसके बारे में मजदूर वर्गीय गायकों के बीच लोग बहुत कम जानते हैं। एर्क[1] द्वारा प्रकाशित लोकगीतों के सर्वाधिक महत्वपूर्ण संकलन में, जो आज सभी गीत संग्रहों का आधार है, प्रकाशक अपनी भूमिका में हमें बताता है कि उसने सभी राजनीतिक रूप से अनुपयुक्त और नैतिक रूप से आपत्तिजनक गीतों को हटा दिया है। इसका मतलब यह हुआ कि सबसे बेशकीमती लोकगीतों से मजदूर वर्ग की व्यापक आबादी अपरिचित है। बुर्जुआ वर्ग ने एक तरह की सेंसरशिप के जरिए हर उस चीज को हटा दिया जो उसे हानिकारक लगी। लेकिन बुर्जुआ वर्ग किस चीज को राजनीतिक रूप से हानिकारक समझता है? उदाहरण के लिए किसान युद्धों के शानदार गीत, जो कि वाकई असली क्रान्तिकारी लोक कला है। या फिर वे काम के दौरान गाये जाने वाले खरे गीत और प्रेम गीत—इन्हें इसलिए हटा दिया गया कि ये एक टांगअड़ाऊ जर्मन स्कूल टीचर के नैतिक दृष्टिकोण से मेल नहीं खाते। इसलिए हमें लोकगीतों में भी अच्छे और बुरे के बीच चुनना होगा। क्रान्तिकारी लोकगीत शोधकर्ताओं को सावधानी के साथ भूसी से दानों को अलग करना होगा। इसके अलावा, वास्तविक लोकगीतों में भी कुछ अच्छे हैं और कुछ बुरे हैं।

क्या कोई आधुनिक लोकगीत भी हैं?

अगर लोकगीत से हमारा आशय ऐसे गीत से है जो हर जगह गाया जाता है तो हां, ऐसे गीत हैं। लेकिन अगर हमारा मतलब ऐसे गीत से है जो लोगों द्वारा रचा गया हो तो कुल मिलाकर जवाब नहीं में होगा। लोकगीत आदिम आर्थिक दशाओं में जन्मते हैं, खासकर कृषि आधारित अर्थव्यवस्था वाले समाजों में। आधुनिक पूंजीवाद लोकगीतों के पैदा होने के लिए अनुपयुक्त भूमि है। लोक संगीत उसी तरह मर रहा है जिस तरह हस्तशिल्प मर रहे हैं। लेकिन हमारे पास इसकी जगह पर कुछ और चीज है—जन गीत या गण संगीत। गण संगीत आधुनिक मेहनतकश वर्ग का लड़ाकू गीत है और एक हद तक यह पहले से ऊंचे धरातल का लोकगीत है, क्योंकि इसका चरित्र अन्तरराष्ट्रीय है।

क्या लड़ाकू गीत क्रान्तिकारी संगीत की एकमात्र विधा है?

नहीं, हम कई विधाएं विकसित कर चुके हैं। गण संगीत, बहुसुरीय कोरस रचनाएं, प्रबोधात्मक रचनाएं और कई और। अब यह आधुनिक क्रान्तिकारी संगीतकारों का काम है कि वे मजदूर वर्गीय संगीत ग्रुपों के लिए विशेष आर्केस्ट्रा संगीत तैयार करें। ऐसा करते हुए आधुनिक संगीतकारों को हर समूह की ठोस स्थिति और तकनीकी स्तर को भी ध्यान में रखना होगा।

क्या आपको नहीं लगता कि यदि आधुनिक क्रान्तिकारी संगीत का उतना व्यापक जनाधार नहीं है जितना हम चाहते हैं तो इसकी एक वजह खुद संगीतकार भी हैं?

हां। आधुनिक संगीतकार को अपने को जन आन्दोलन से काट नहीं लेना चाहिए। अपने कमरे में बैठकर मजदूर वर्ग के आन्दोलन के लिए संगीत रचना ही काफी नहीं है। उसे मेहनतकश वर्ग के सामाजिक जीवन और संघर्षों में सक्रिय हिस्सेदारी करनी होगी। हमें संगीत के बुद्धिजीवियों और मेहनतकश वर्ग के बीच एक संश्रय कायम करना होगा। संगीत का बुद्धिजीवी मेहनतकश वर्ग से राजनीतिक रूप से सोचना सीख सकेगा और क्रान्तिकारी दृष्टिकोण हासिल करेगा। मजदूर वर्ग बुद्धिजीवी से शास्त्रीय संगीत की महान परम्परा ग्रहण करने के साथ ही नये और समकालीन संगीत की पद्धतियां सीख सकेगा। जब यह संश्रय एक तथ्य बन जायेगा तभी हम अपने आन्दोलन की कठिनाइयों पर विजय पा सकेंगे।

अनुवाद : **सत्यम वर्मा**

1. लुडविग क्रिश्टियन एर्क (Ludwig Christian Erk, 1807-1883), 19वीं शताब्दी के महान जर्मन लोकगीतों के संकलनकर्ता। करीब 20 हजार गीतों का संकलन छोड़ गये। उनके संकलन (Deutscher Liedrhort) का संशोधित संस्करण 1893-94 में फ्रांज़ मैग्नस बोहमे के सम्पादन में प्रकाशित हुआ था। यह जर्मन लोकगीतों का सर्वाधिक सम्पूर्ण संकलन है।

(पृष्ठ 26 का शेष)

विद्या भवन, बम्बई पृ. 499
2. द्विवेदी हजारी प्रसाद (1955) हिन्दी साहित्य : उसका उद्भव एवं विकास, अत्तरचन्द एण्ड संस, दिल्ली, पृ. 369
3. गुप्ता, ज्योतिन्द्र दास (1970) लेंग्वेज कनफ्लिक्ट एंड नेशनल डेवलमेंट, केलिफोर्निया विश्वविद्यालय, बर्कले, पृ. 50
4. ग्रियर्सन की प्रसिद्ध कृति लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया, 1903 से 1928 के मध्य 19 भागों में प्रकाशित हुई। भारतीय भाषाओं पर हुए परवर्ती कार्यों पर इसका व्यापक प्रभाव पड़ा
5. विद्यार्थी, एल.पी., कल्चरल एण्ड लिंग्विस्टक स्टडी इन इंडिया, बिहार ए केस स्टडी'' पोद्दार, अरविन्द (सं.) लेंग्वेज एण्ड सोसाइटी इन इंडिया, पृ. 126
6. ग्रियर्सन, जी.ए. (1882) ''एविडेंस बिफोर दी इंडियन एजूकेशन कमीशन, बंगाल प्रोविन्स रिपोर्ट, गवर्नमेंट प्रिन्टिग प्रेस, कलकत्ता
7. हार्नले, ए.ई., रूडोल्फ (1883), सेन्टेनरी रिव्यू ऑफ एसियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल (1784-1883), भाग 2, पृ. 169-171
8. ग्रियर्सन, जी.ए. (1882), ''एविडेंस बिफोर दी इंडियन एजूकेशन कमीशन'' बंगाल प्रोविन्स रिपोर्ट, गोवर्नमेंट प्रिंटिंग प्रेस, कलकत्ता।
9. विद्यार्थी एल.पी., वही
10. ब्रास पाल.आर. (1974), लेंग्वेज रिलीजन एण्ड पालिटिक्स इन नार्थ इंडिया, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, पृ. 61-62
11. थापर, रोमिला (1966) ए हिस्ट्री आफ इंडिया भाग-1, प्रेम्बिन, पृ. 308
12. ग्रियर्सन, जी.ए., लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया, खण्ड- 5, भाग-2, पृ. 5
13. वही, खण्ड - 1, भाग-1, पृ. 158
14. वही, खण्ड - 9, भाग-1, पृ. 1-2
15. ग्रियर्सन, जी.ए. (1882) ''ऐविडेंस बिफोर दी इंडियन एजूकेशन कमीशन'' बंगाल प्रोविन्स रिपोर्ट, गोवर्नमेंट प्रिन्टिंग प्रेस, कलकत्ता।
16. बिहार बन्धु, 18 अगस्त 1881
17. चतुर्वेदी, एस.एन. (1930), दी हिस्ट्री आफ रूरल एजूकेशन इन यूनाइटेड प्रोविन्स आफ आगरा एण्ड अवध, दी इंडियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद, पृ. 20
18. मार्टिन, आर.एम. (1838), हिस्ट्री ऐन्टीक्यूटीज, टोपोग्राफी एण्ड स्टेटिक्स आफ इस्टर्न इंडिया, भाग-2, पृ. 429-30
19. विपिन चन्द्र हमें बताते हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक तक लगभग आधी भूमि सम्बन्धी सम्पत्ति पुराने जमींदारों से नये जमींदारों एवं व्यापारियों के हाथ में चली गयी जो शहरों में निवास करते थे। माडर्न इंडिया, एन.सी.ई.आर.टी. नई दिल्ली
20. पालीवाल, कृष्णदत्त (सं.) (1987) भारतेन्दु के श्रेष्ठ निबन्ध, 1987, पृ. 70-73
21. ग्रियर्सन, जी.ए. लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया, खण्ड-1, भाग-1, पृ. 15
22. हड्सन एमीनेंस आफ वर्नाक्यूलर्स आर दी एंग्लिसिस्ट आनर्स्ड, श्री रामपुर प्रेस, कलकत्ता, पृ. 18
23. द्विवेदी हजारी प्रसाद (1955), वही, पृ. 370-374
24. ग्रियर्सन, जी.ए. वही, भाग 1, पृ. 130
25. रिची (1923) सेलेक्शन फ्राम एजुकेशनल रिकार्डस, पृ. 255
26. वही, पृ. 2...
27. आचार्य, प्रोग्रेस, ''डेवलपमेंट आफ मार्डन लेंग्वेज टेक्स्ट बुक, इकोनामिक एण्ड पालिटिकल वीकली, अप्रैल 26, 1986
28. बसाक, एन.एल. (1974) वर्नाक्यूलर एजूकेशनल इन बंगाल, भरत बुक स्टाल, कलकत्ता, पृ. 309-10
29. बिहार बन्धु, 16 सितम्बर, 1879
30. दी इंडियन एजूकेशन कमीशन रिपोर्ट, (1882-83), पृ. 343
31. सिन्हा, सच्चिदानन्द (1939) एसेम्बली इंटरपटेशन फाइल, फाइल नं. 70, सिन्हा लाइब्रेरी पटना।
32. झा, जटाशंकर (1979), एजूकेशन इन बिहार, पी.जे. आर.आई. पटना, पृ. 255
33. होम एजूकेशन 1864, फाइल नं. 10687 नवम्बर
34. ग्रियर्सन, जी.ए., लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया, खण्ड 5, भाग 2, पृ. 11
35. बिहार बंधु, 2 सितम्बर 1880
36. बसु, ए.एन. (1941) रिपोर्ट आन दी स्टेट आफ वर्नाक्यूलर एजूकेशन इन बंगाल, कलकत्ता, पृ. 248
37. रीड, एच.एस. (1850-51) रिर्पोट्स आन दी इंडीजेन्स एजूकेशन एण्ड वनौक्यूलर स्कूलस, पृ. 64
38. वही, पृ. 64
39. बिहार बन्धु, 21 जुलाई 1881
40. ग्रियर्सन, जी.ए. लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया, खण्ड 1, भाग 1, पृ. 151
41. दी नार्थ वेस्टर्न प्राविन्सेज रिपोर्ट ऑन पब्लिक इंस्ट्रक्चर फार 1858-59, पृ. 32-33
42. मिल्ट्री डिपार्टमेंट नं. 577, 6 अक्टूबर 1860
43. होम, एजूकेशन नं. 155, 1860
44. एजूकेशन रिपोर्ट आफ अवध फार 1869, पृ. 21
45. दी हिन्दुस्तान रिव्यू, मार्च 8, 1949

● शिक्षाशास्त्र विभाग
गोरखपुर विश्वविद्यालय

"मुझे तो कोई खतरा नहीं है, पर आपको है, सर!"

__हावर्ड फास्ट__ के प्रख्यात, पर आज दुर्लभ उपन्यास __'सिलास टिम्बरमन'__ का एक अध्याय हम यहां प्रस्तुत कर हैं। 'सिलास टिम्बरमन' अमरीका के एक विश्वविद्यालय के एक गुमनाम-से कालेज के प्रोफेसर की कहानी है, जो शिक्षा-जगत में आजाद ख्यालों के लोगों का पीछा कर रहे शिकारी कुत्तों और भेड़ियों के उन्माद और हुआं-हुआं के शोर से उत्पन्न भयावह चक्रवात में फंस गया है। यह कहानी है उस दौर की जब प्रगति और परिवर्तन के हामी हर विचार और हर व्यकित को कुचलने की राष्ट्रव्यापी साजिशें रची जा रही थीं और साथ ही यह समाज से कटे एक बुद्धिजीवी के जागने और उन शक्तियों के खिलाफ आवाज बुलन्द करने की कहानी है। - सम्पादक

2 नवम्बर, बुधवार की रात और कैम्पस में आइक एम्सटरडम के पक्ष में आयोजित होने वाली विरोध सभा से एक दिन पहले की बात है। सिलास देर गये रात तक अगले दिन के लिए अपना बयान तैयार कर रहा था। वह एक तथ्य पर ऐसे अन्दाज में, जिसमें कुछ अचरज और उससे कुछ ज्यादा विनम्रता का भाव था, सोच में डूबा हुआ था : उसे ध्यान आया कि उसकी अब तक की जिन्दगी में हालांकि एक के बाद दूसरा दिन क्लासरूमों में लेक्चर देते हुए ही कटा था, पर वह इससे पहले कभी किसी आम सभा में नहीं बोला था। अपने मन और मस्तिष्क पर बुरी तरह छायी नाना प्रकार की शंकाओं और आशंकाओं का विवेचन कर चुकने के बाद वह इस नतीजे पर पहुंचा कि इन शंकाओं-आशंकाओं में सबसे भयावह स्थान इस तथ्य का है कि उसे तो इस बार क्लासरूम की चहारदीवारी से घिरी पनाहगाह के बाहर जाकर बोलना था (पनाहगाह की तो उसकी जिन्दगी में गहरी जगह थी, उसकी जिन्दगी का एक महत्वपूर्ण कारक था।)। शायद उसकी जिन्दगी के एक अच्छे-खासे हिस्से का सरोकार एक ऐसी ही पनाहगाह की तलाश में रहा—उन तमाम उन्मत्त तूफानों से बचने के लिए पनाहगाह की तलाश जो सारी दुनिया में गर्जन-तर्जन किया करते थे, परन्तु जिनसे वह अछूता रहा; यह थी उन भयावह कृत्यों से जो एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के विरुद्ध किया करता है, बचने के लिए पनाहगाह की तलाश; यह थी भूख और ठंड के राक्षसी पंजों से बचने के लिए पनाहगाह की तलाश; विषादमय, उलझनभरे विवादों-कलहों से, जिन्हें राजनीति का नाम दिया जाता है, बचने के लिए पनाहगाह की तलाश। *क्लासरूम* एक ऐसी ही पनाहगाह थी, जहां मनुष्य उसमें, अपने क्लासरूम में राजा हुआ करता था, जहां उसकी बातें उसके छात्र सुना करते थे और जहां वह, प्रोफेसर टिम्बरमन, सदा ही ऐसा व्यक्ति हुआ करता था जो पास में बैठे व्यक्ति से कुछ ज्यादा ही जानता था।

परन्तु इस समय तो उसे पक्का यकीन नहीं था कि वह पास में बैठे व्यक्ति से कुछ ज्यादा ही जानता है। अपने एक नजदीकी और प्रिय व्यक्ति के साथ जो कुछ हो रहा था, उसके प्रति अपना आक्रोश प्रकट करने के लिए वह शब्द ढूंढ़ने के लिए भटक रहा था, जूझ रहा था। लेकिन लगता था कि वह इस मामले में जरा भी आगे नहीं बढ़ पा रहा है और गहरा सच तो यह था कि वह अपनी इच्छा के विरुद्ध लिख रहा था; और सब कुछ के बावजूद असलियत तो यही थी कि उसकी इच्छा अब भी अपनी जिन्दगी शान्तिपूर्वक बसर करने की थी—किसी का भी हाथ उसके खिलाफ न उठे। उसने अपने छोटे-से अध्ययन कक्ष के चारों ओर नजर दौड़ायी और मन ही मन सोचा कि यही तो असल में वह चीज है, जिसकी मनुष्य कामना करता है—मजबूत आधार पर टिकी सुख-सुविधाएं। इनके अपने पास रहने का यकीन; बांज की लकड़ी की बड़ी टिकाऊ आरामदेह मेज जिसके पास कुर्सी पर बैठकर वह लिखा करता है; फर्श से ऊपर छत तक फैले किताबों के शेल्फ; शताब्दियों से प्रवहमान ज्ञान-प्रज्ञान का नन्हा-सा सागर; उनमें से प्रत्येक मूल, संस्कृति, परम्परा के धागों से बुने गुच्छों के अन्दर मजबूती से संरक्षित हैं; उनमें से प्रत्येक मनुष्य के चिन्तन और सभ्यता के एक या दूसरे पहलू को आलोकित कर रहा है; वे सब इस आलोक को नयनाभिराम हरी छटा दे रहे हैं। वहां रखे लैम्प; आरामकुर्सियां, दीवारों को सुशोभित कर रही वे कलात्मक प्रतिकृतियां, जिन्हें उसने माइरा के साथ बहुत चाव और सावधानी से चुना था; हाथ से बुना गलीचा जिस पर एक खूबसूरत जलयान और हवा में पूरी तरह फैले पाल की अनुकृतियां हैं; और गलीचे पर प्राचीन लातिनी भाषा में यह अनूठा फिकरा अंकित था—*Homo sum : humani nihil a me alienum puto*—न जाने उसने कितनी बार ऊपर नजर दौड़ाकर यह पता लगाने का इरादा बनाया कि ये शब्द किसके हैं—*सिसेरो* के या किसी अन्य के? न जाने कितनी बार इस वाक्य ने उसकी जबान पर चक्कर खाये होंगे : *मैं मनुष्य हूं और जिस किसी भी बात का*

मनुष्य से सरोकार न हो, उसे मैं अपने लिए उपेक्षा की वस्तु मानता हूं! कितने सुन्दर ढंग से बात कही गयी है। और यहां यही चीज तो गहन सुख-सुविधा का सार थी; लेकिन फिर उसके दिमाग में विचार उठा कि बात कतई ऐसी नहीं है और सारा सारतत्व और सुरक्षा यहां गरम इलाकों के तूम्बे की तरह खोखले हैं जिसके अन्दर का गूदा तो सूख जाता है और सख्त बीज खोखलेपन के बीच एक-दूसरे से टकराने को रह जाते हैं। प्रोफेसर ने पांडुलिपि के करीने से रखे हुए कागजों के ढेर पर नजर दौड़ायी। इसमें तीन अध्याय थे, जिन्हें वह पूरा कर चुका था और पांडुलिपि का नाम उसने आरजी तौर पर *मार्क ट्वेन एंड द कंट्री आफ हिज़ च्वायस* ('मार्क ट्वेन और उनकी पसन्द का देश'-अनु.) रखा था। और तब उसने घोर निराशाभरी, व्यथित भावना के साथ अनुभव किया कि यह तो सरासर धोखाधड़ी है और मार्क ट्वेन के बारे में वह बहुत ही कम जानता है और उसके पसन्द के देश के बारे में तो और भी कम, जिससे मार्क ट्वेन नफरत करता था, जिस पर आगबबूला हो उठता था और झपट पड़ता था।

जब सिलास ने अपनी पुस्तकों पर, ढेर सारी पुस्तकों पर, संजोकर रखे गये इस भंडार पर फिर नजर दौड़ायी तो उसके ध्यान में केवल प्राचीन मिस्र के वे ही लेखक आये, जो अपनी संस्कृति की गतिहीन निरंकुशता के बीच बर्फ की तरह जम चुके थे और जिन्होंने अपना पूरा जीवन और भी प्राचीन कृतियों की अध्यवसायपूर्वक नकल करते-करते बिता दिया था और ऐसा करते हुए वे अपने मन में यह भ्रम पालते रहे कि वे साहित्य के विलुप्त सृजनात्मक कला पर काम कर रहे हैं।

पर प्रोफेसर ने तब राहत की सांस ली, जब माइरा ने कमरे में प्रवेश किया और उसकी बगल में बैठ गयी और प्रोफेसर को कुछ ऐसे विनोदभरे और कुछ प्रश्नसूचक ढंग से देखने लगी, जो उसका अपना खास अंदाज था।

''बच्चे मीठी नींद सो रहे हैं'', वह बोली, ''मीठी नींद में बच्चे संसार के बाकी सब लोगों से अधिक सुन्दर लगते हैं। मुझे यकीन है, इन्हें देखकर कहीं अधिक सकून मिलता है। तुम्हारा क्या ख्याल है? मैं लकड़ियां लायी हूं, वह अंगीठी में जलने लगी हैं। चलो, वहां आग तापते रहेंगे एक दूसरे का हाथ पकड़े हुए। क्या यह एक खूबसूरत विचार नहीं है? बोलो, यह चलेगा?''

''नहीं चलेगा। मैं सिर्फ दो ही पैराग्राफ लिख पाया हूं।''

''पढ़कर सुनाओ।''

''बिल्कुल बेकार। सुनो यह—'मुझे *आइक एम्सटर्डम* को जाने बीस बरस बीत गये हैं। इन बीस बरसों में वह दोस्त, अध्यापक रहा।' ओह, भाड़ में जाये यह सब! बिल्कुल बेकार। मैं वह नहीं कह पा रहा हूं, जो मैं कहना चाहता हूं।''

''क्या कहना चाहते हो?''

''वाकई पता नहीं क्या कहना चाहता हूं, सिवाय इसके कि छाती पीट-पीट कर, रोते-चिल्लाते हुए कहना चाहता हूं कि यहां कुछ ऐसा घट रहा है, जो घिनौना है, जो वीभत्स है, कुछ ऐसा घट रहा है, जो रुग्ण है, जो जर्जर और सड़ा-गला है, मौत का आभास देता है और उसकी भयंकर दुर्गन्ध धरती से आकाश तक फैली हुई है।''

''और तुम इसलिए यह नहीं कह पाते, क्योंकि उस पर विचार नहीं किया जायेगा, उसे निष्पक्ष और वस्तुनिष्ठ नहीं माना जायेगा।''

''कटाक्ष करने से तो कोई मदद मिलने वाली नहीं।''

''मैं कटाक्ष करने का यत्न नहीं कर रही हूं। मैं भी इस पर सोच-विचार करती रही हूं। मैं तुमसे कुछ पूछना चाहती हूं—यह इस मामले की तह में है। तुमने एटम बम के खिलाफ उस कागज पर दस्तखत क्यों किये थे?''

''और तुमने?''

''मैं तो तुमसे पूछ रही हूं, सिलास। अपना सवाल बाद में करना।''

''तो ठीक है। चलो, बताने की कोशिश करता हूं। आदमी कोई काम क्यों करता है, यह जानना-बताना आसान नहीं है। हम जैसे लोगों को, माइरा, लगभग कभी यह नहीं समझाना पड़ता कि हम जो करते हैं, वह क्यों करते हैं।''

''सचमुच नहीं समझाना पड़ता, अक्सर नहीं।''

''एलेक ब्रैडी ही मेरे पास वह कागज लेकर आया था और तुम्हें पता है, माइरा, ज्यों ही उसने वह कागज मुझे दिखाया, और उसके बारे में बताने लगा, मैं जान गया कि वह कौन है।''

''कम्युनिस्ट!''

माइरा की आंखें अनायास अध्ययन-कक्ष के दरवाजे की ओर घूम गयीं और सिलास लगभग कर्कश स्वर में बोला : ''तो यह है बात! फिर ऐसा क्यों किया? या खुदा, यह दुनिया ऐसी क्यों है, जिसमें इन्सान डरकर और आतंकित होकर बात तक नहीं कर सकता? यह कैसा दु:स्वप्न है, जिसमें हम जी रहे हैं—यह किस किस्म का कुलीन, सभ्य, अपवित्र दु:स्वप्न है, जिसमें हम जी रहे हैं? मैं अपने से कहता हूं, मैं तो संयुक्त राज्य अमेरिका का जन्मना स्वतंत्र, स्वाधीन नागरिक हूं, पर मैं *कम्युनिस्ट* शब्द को जबान तक पर नहीं ला सकता, इसमें खतरा जो है; मेरी पत्नी भयभीत है और घबरायी हुई इधर-उधर नजर घुमाती है यह देखने के लिए कि कहीं कोई उसके पति की बात सुन तो नहीं रहा?''

''तो फिर अगर इस तरह चिल्लाओगे तो तुम्हें जरूर कोई सुन लेगा।''

''यह अमरीका का इंडियाना राज्य है, जर्मनी नहीं।''

माइरा बहुत शान्त हो गयी, दोनों हाथ सटाकर गोदी में रखे हुए, सिलास के बारे में ऐसी अजीब-सी दिलचस्पी से सोचते हुए, जो किसी नये लेकिन रहस्यमय अजनबी को देखकर पैदा होती है। ''तो ठीक है, तुम्हें पता था कि एलेक ब्रैडी कम्युनिस्ट है। अच्छा फिर यह बताने में बुरा तो नहीं लगेगा तुम्हें कि तुम्हारी उससे जान-पहचान कैसे हुई?''

''मुझे याद है कि कैसे जान-पहचान हुई, परन्तु इस बात का कोई अर्थ ही नहीं है। तुमने पूछा कि मैंने उस कम्बख्त कागज पर दस्तखत क्यों किये? तो सुनो, मैंने ब्रैडी पर नजर दौड़ायी पर अपने से ही पूछा कि यह शख्स यह कागज लेकर लोगों के पास क्यों जा रहा है; मेरी प्रिय माइरा, मेरी प्रिय, नेक, प्यारी पत्नी, तुम जानती हो कि हम ऐसी दुनिया में रह रहे हैं, जो सिद्धान्त के मामले में बिलकुल खोखली है, जो स्वार्थ के

अलावा बाकी सभी अर्थ-हितों से अनजान है, जो किसी गृह-देवता की भांति रक्षा कर रहे रसोईघर में रखे उस मनहूस रेफ्रिजेरेटर की तरह अभिशप्त है। यह समझने की कि वह उस कागज को लेकर क्यों चक्कर काट रहा है, सिर्फ एक वजह, बस एक ही वजह ढूंढ़ सका—वह वजह थी कि वह कम्युनिस्ट पार्टी का सदस्य है। और तुम्हें पता है, मैंने इस बारे में पूछा भी।''

''उसका जवाब क्या था?'' माइरा ने जानना चाहा। ''अगर बताना चाहो, तो बताओ।''

यह किस्सा जून महीने के शुरू-शुरू का है। जून महीने में, क्लासें बंद होने से पहले, चंद दिन पहले ही! सिलास और ब्रैडी बांज के वृक्षों की छायादार वीथिका के, जिसके लिए क्लेमिंग्टन कैम्पस को उचित ही ख्याति मिली हुई है, छोर पर पत्थर की एक बेंच पर बैठे हुए थे। शाम के लगभग पांच बजे का वक्त था। गर्मियों में दोपहर बाद की लम्बी होती छायाएं; सांझ का आवरण मंथर गति से उस स्थान को अपनी लपेट में ले रहा था; इस सबने सिलास को याद दिलायी उस अवश्यम्भावी विषाद की जिसे वह अनुभव करता रहा था। ब्रैडी खुद उससे कुछ कहना चाहता था और बातचीत करते हुए वे वहां पहुंच गये। कभी एक विषय की तो कभी दूसरे विषय की चर्चा करते रहे। वह एक तरह खुद ब्रैडी के साथ में होने से खुश था। वह इस शख्स को समझने की अपेक्षा उसे पसन्द ज्यादा करता था। इस समय वह यों ही सोच रहा था कि ब्रैडी के मन में क्या है। सच्ची बात तो यह है कि वह ब्रैडी को पसन्द करता था, उसका प्रशंसक था। उसके सामने थोड़ी घबराहट-सी महसूस करता था। सिलास की सोच का एक हिस्सा यह भी था कि वह कैम्पस में जिन लोगों को जानता और पसन्द करता था, उनमें उसका कुछ हद तक अविश्वास भी था, उसे लगता था कि उनके सामने उसका स्तर कुछ नीचे है। इस तरह वह अपने ही अलगावपन को पोषित करता रहा। उनके तिरस्कार से बचता था। परन्तु ब्रैडी में एक ऐसा गुण था, जो दूसरों में सहजता की भावना पैदा करता था। उसके, कहना चाहिए, भद्दे से लम्बे नाक-नक्श उसके चेहरे को प्रभावात्मक बनाते थे, उसके गंजे सिर के किनारे-किनारे ललछौंहें बाल सन्त की आभा और मसखरे की शक्ल-सूरत के बीच सन्तुलन बनाने का काम देते लगते थे। और दूसरे कई आयरिशों की तरह ब्रैडी भी अपनी आवाज को बहुत प्रभावशाली ढंग से इस्तेमाल करता था।

सिलास के साथ उसके सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ तो नहीं थे, लेकिन उनका स्रोत आइक एम्सटर्डम के प्रति आपसी श्रद्धा-भाव था। परन्तु यह ब्रैडी नहीं वरन सिलास था, जो आपसी सम्बन्धों में प्रगाढ़ता लाने में पीछे रहता। सिलास ने ब्रैडी के संग बिताये कुछ शामों का भरपूर आनन्द उठाया था, दुनिया में इस समय घट रही और अतीत में घट चुकी बातों के साथ यह प्रभावशाली व्यक्ति जिस शुष्क ढंग से और बेरहमी के साथ पेश आता था, वह सिलास पर जादू कर देता था। परन्तु इसके साथ ही साथ उसे इससे वितृष्णा भी होती थी। सिलास उन लोगों के बीच बहुत असहज रहता था, जिनका ज्ञान विशिष्ट लक्ष्य-केन्द्रित होता था और जिनकी सम्मतियां तीक्ष्ण, निर्ममतापूर्ण होती थीं। वह अपने से कुछ चिड़चिड़ेपन के साथ सवाल करता: ''ब्रैडी, जिसकी संगत को मैं तरजीह देता हूं, पर क्या वह भी मेरी संगत को तरजीह देता है?'' इस समय उसने अपने से सवाल किया और उसे इस बात से कुछ सन्तोष मिला कि ब्रैडी उससे कुछ चाहता है। ब्रैडी के पास वह मांग-पत्र था, जिसमें एटम बम को अभी और सदा-सर्वदा के लिए निषिद्ध घोषित करने का आह्वान किया गया था; फिर भी यह चीज हर वस्तु को देखकर नाक-भौं सिकोड़ने वाले व्यक्ति के स्वभाव से मेल नहीं खाती थी। उसे पढ़ चुकने के बाद—यह मांग-पत्र बहुत संक्षिप्त था—वह कुछ देर खामोश बैठा रहा और इस बीच उसके दिमाग में विचारों की परतों का अम्बार बनता चला गया, हालांकि ये परतें किसी तरह के खास प्रसंगों से जुड़ी हुई नहीं थीं। और तब वह इस फैसले पर पहुंचा कि ब्रैडी कम्युनिस्ट है। ''उन सबमें ब्रैडी और वह कम्युनिस्ट!'' उसने मन ही मन कहा। और फिर क्षणभर के लिए वह मांग-पत्र को भूल गया। इस अद्भुत तथ्य की खोज करने के लिए वह अपने पर ही मोहित हो गया, हालांकि यह शायद उतना अद्भुत नहीं था। बिलकुल अपने आम स्वभाव के अनुसार सिलास ने तुरन्त और सीधे सवाल कर दिया : ''तुम कामरेड हो?''

''क्यों पूछ रहे हो?'' ब्रैडी ने जानना चाहा।

माइरा को यह बात सिलास ने पांच महीने बाद समझायी। ऐसे मांग-पत्र लेकर लोग अक्सर दूसरों के सामने नहीं जाते। एक विराट एटमी उड़नतश्तरी तैयार की ली गयी है। और इसमें हरेक अलग-अलग उड़ान भरने के लिए तैयार है। सिलास का इस बात से कोई सरोकार नहीं था कि उसका पड़ोसी, उसके पड़ोसी की पत्नी और बच्चे या दस लाख लोग भस्म हो जायेंगे। जनमानस तो इसी तरह ढाल दिया गया था और सिलास का दिमाग भी अपने आसपास के हर व्यक्ति की तरह इसी सांचे में ढला हुआ था।

ब्रैडी के सवाल के जवाब में सिलास बोला :

''तुमने मुझसे इस मांग-पत्र पर दस्तखत करने के लिए कहा तो इसकी और वजह क्या हो सकती थी?''

''यह हम पर और हमारी जिन्दगियों पर बहुत ही कड़ुवी टिप्पणी है। है कि नहीं?''

''हां, जब तुम इस ढंग से देखो।''

''इसे देखने का दूसरा तरीका कौन-सा है, सिलास?''

''खैर, तुम समझते हो कि मेरा आशय क्या है। अगर तुम्हारी ही तरह मैं भी महसूस कर पाता कि इस रूस की पहेली के पीछे निरर्थक आतंक, जबरन थोपे गये अनुशासन के अलावा कुछ ऐसा भी है, जो अच्छा है, जो कुछ और भी है!''

''तुम कैसे यह जानते हो कि मैं इस ढंग से सोचा करता हूं? तुम्हारा कहने का मतलब क्या यह है कि तुमने तय कर लिया है कि मैं जरूर कम्युनिस्ट हूं?''

''मेरा ऐसा ही ख्याल है। तुम जरूर कम्युनिस्ट हो।''

''जब तुमने मेरे बारे में तय कर ही लिया है, तो मेरा उत्तर सुनने की तुम्हारी जिज्ञासा पूरी करने के लिए इस मुद्दे पर चर्चा करने का कोई खास अर्थ ही नहीं रह जाता।''

यह कहते हुए ब्रैडी ने मुस्कराते हुए पूछा : ''इस पर

दस्तखत करोगे?''

''इसे तुम मेरे पास लाते ही न, अगर तुमने यह सोचा होता कि मैं दस्तखत नहीं करूंगा'', सिलास ने कुछ उदास स्वर में कहा।

''मेरा भी ख्याल है, शायद नहीं लाता।''

''इससे कोई फायदा होने नहीं जा रहा। क्या, एलेक, तुम्हारे और मेरे बीच यह अन्तर होगा? मेरा इस बात में यकीन नहीं है कि इस तरह की चीजों से कोई फायदा होगा, कतई नहीं।''

''अगर काफी तादाद में लोग कुछ कहें, तो उनकी बात सुनी जायेगी।''

''काफी तादाद में?'' यह कहते हुए सिलास की नजर ब्रैडी से दूर, कैम्पस की ओर चली गयी।

''यह भूमंडल बस क्लेमिंगटन तक सीमित नहीं है। पूरी दुनिया की एक ही ख्वाहिश है, लोग इस बात से थक चुके हैं कि दूसरे उन्हें इस्तेमाल करते रहें।''

''मुझे लगता है, मामला यह है कि कौन किसे सबसे ज्यादा होशियारी से इस्तेमाल करता है। मैंने सबसे सुना है कि यह रूसी मन्सूबा है, है कि नहीं?''

''मैं इस पर भी बहस नहीं करूंगा, हालांकि इससे इन्कार करता हूं। मुद्दा यह है कि मौत का यह भंयकर नृत्य शुरू होने से पहले ही रोक दिया जाये।''

''अगर मैं इस पर दस्तखत कर दूं'', सिलास ने मांग-पत्र पर नजर गड़ाते हुए, उसे फिर से पढ़ते हुए कहा, ''अगर मैं इस पर दस्तखत कर दूं, तो इसका मतलब मुसीबत मोल लेना है, ठीक है न? और सभी की तरह मैं भी इस तरह की चीजों पर दस्तखत करने से डरा करता हूं। मुझे ऐसी चीजें डाक से मिला करती हैं, पर मैं उन पर तब भी दस्तखत नहीं करता, जब मैं उन्हें न्यायोचित मानता हूं। हरेक की तरह मैं भी अपने ही छोटे-से झूठ के साथ जी लेता हूं। मैं एक आजाद मुल्क में रहता हूं, जहां मैं एक मांग-पत्र पर दस्तखत करने से डरता हूं और फिर इस डर को अपने से यह कहते हुए न्यायसंगत ठहराता हूं कि मुझे इस्तेमाल किया जा रहा है, कि यह एक तिकड़म है, एक मुखौटा है, एक जाल है,'' सिलास ने ब्रैडी पर नजर दौड़ायी और बोला : ''ये तुम्हारी दलीलें हैं, है न?''

''नहीं, ये तुम्हारी दलीलें हैं,'' ब्रैडी ने जवाब दिया।

''क्या फर्क पड़ता है? मेरे ख्याल से मैं इस पर दस्तखत करने नहीं जा रहा हूं। तुमने कैसे यह मान लिया कि मैं दस्तखत कर दूंगा?''

''तुमने अभी-अभी जो कहा, उस वजह से। मेरा ख्याल है बहुत खराब वक्त है यह, सिलास, अब से लेकर ठीक पतझड़ तक रूस के बारे में बोलते जाओ, पर इससे यह तथ्य रत्तीभर नहीं बदलता कि यह बहुत मनहूस वक्त है—खौफ की भारी दीवाल के पूरे राष्ट्र पर भरभराकर गिरने की आशंका, पूरे राष्ट्र का भयभीत रहना, यह मानने से डरना कि वे दिग्भ्रमित हैं, निरस्त्र हैं। अध्यापकों का भेड़-बकरियों की तरह पीछा किया जा रहा है, विद्वानों से कहा जा रहा है कि उन्हें क्या सोचना चाहिए और नहीं सोचना चाहिए, लेखकों से कहा जा रहा है कि उन्हें क्या लिखना चाहिए और क्या नहीं लिखना चाहिए और अगर वे बतायी गयी लीक पर नहीं चलते, तो उनकी पुस्तकें जला दी जाती हैं।—यह है हमारे इस वक्त की मुहर! हम कहा करते थे—देशभक्ति लुच्चे-लफंगों की आखिरी शरण-स्थली है, लेकिन अब यह कायरों की भी शरण-स्थली बन गई है। पर देखो, यह पहला मौका नहीं है कि ऐसी बात हो रही है और यह पहली जगह नहीं है, जिसके साथ ऐसा हुआ है। पर यह सचमुच कारगर साबित नहीं होता। ऐसा नहीं हो सकता कि तुम सोलह करोड़ लोगों को एक कतार में खड़ा कर दो, चाबुक चटकाओ और उन्हें लोहे के छल्ले के बीच से कूदने के लिए विवश कर दो। ऐसे लोग हमेशा रहेंगे, जो कूदने से इंकार कर देंगे, जो सोचने के अपने हक पर, यथार्थ को देखने के अपने हक पर डटे रहेंगे, और ठीक यही चीज है, जो उन्हें इन्सान बनाती है; ये लोग अपनी इन्सानियत को तिलांजलि नहीं देंगे। इसी वजह से मैं सोचता हूं कि तुम इस मांग-पत्र पर दस्तखत कर दोगे, भले ही तुम तय कर बैठे हो कि मैं कम्युनिस्ट हूं और यह सब एक कम्युनिस्ट जाल है।''

आखिरकार सिलास ने उसपर दस्तखत कर दिये, यह उसने माइरा को बताया था।

और सिलास की समझ में तत्काल यह बात नहीं आयी कि माइरा ने आखिरकार यह सवाल किया ही क्यों। समझ में न आने का कारण यह था कि बहुत अक्सर सवाल जवाब के ब्यौरे के बीच खो जाता है। वह, सिलास टिम्बरमन, एक साथ दो ''चीजें'' था, दो शख्स था, दो जिन्दगियां था, एक विशेष अवबोधन के दो हिस्से था। एक जिंदगी, जो वह जी रहा था, दूसरी जिंदगी वह अवबोधन थी, जो क्रियाशीलता के बिना ही अस्तित्वमान थी। अलबत्ता एक अपवाद को छोड़कर, जब क्रियाशीलता उस पर थोप दी जाती थी, जैसे कि उस समय, जब कुछ क्षणों के लिए पूरे अमरीका ने और बाकी दुनिया के एक अच्छे-खासे बड़े हिस्से ने मनोरंजन, चिन्ता और शायद संत्रास के घुले-मिले भावों के साथ यह पढ़ा कि मध्य-पश्चिमी अमरीकी विश्वविद्यालय के एक प्रोफेसर को इस बात की आज्ञा दे दी गयी थी कि वह मार्क ट्वेन को न पढ़ाये।

''चलो छोड़ो यह सब,'' सिलास माइरा से बोला, ''कोई फायदा नहीं इससे।'' दोनों बैठक में चले गये और अंगीठी के सामने बैठ गये। माइरा उसे ताकती रही इस अंदाज में कि उसे न लगे कि किसी की नजर उसके चेहरे पर घूम रही है। वह उसके मन में भावों के ज्वार-भाटे को, उसके अन्दर विचारों की तूफानी हलचल से पैदा तनाव और प्रति-तनाव को अनुभव कर रही थी। यह माइरा के अपने ही तर्कों का निगमन था। और उसे इस चीज ने चकित कर दिया कि वह सिलास के नाम के साथ तूफानी हलचल शब्दों को जोड़ सकी। वह तो सिलास को उद्वेगहीन व्यक्ति मानने की ही आदी हो गयी थी। और यह रहा सामने बैठा मनुष्य, जिससे उसने विवाह किया था, जिसके साथ उसने अपने जीवन का इतना कुछ अंश जोड़ा था; ऊंची कद काठी का, दुबला, पतले से चेहरे वाला मनुष्य, एक तरह का भीरु मनुष्य।

हो सकता है, सिलास को यह बोध हो गया हो कि उसे माइरा समझती है। वह अब भी अपने ख्यालों में डूबा हुआ था, एलेक ब्रैडी और आइक एम्सटर्डम व साथ ही अपना भी मूल्यांकन कर रहा था। माइरा से मानो उसके मन के भाव पढ़ते हुए बोला: ''जानती हो, मैं भीरु हूं।'' फिर उसने चुनौती भरे ढंग से माइरा पर नजर दौड़ायी।

''मेरा ख्याल है, अधिकांश लोग, लगभग अधिकांश समय भीरु ही होते हैं,'' माइरा ने स्वीकृतिसूचक ढंग से सिर हिलाया।

''कल के बारे में नहीं बोलना चाहता, नहीं बोल सकता, मैं उन छात्रों के सामने खड़ा नहीं हो सकता, बोल नहीं सकता। नहीं कर सकता, माइरा!''

''पता नहीं इस बारे में मुझे क्या करना चाहिए?'' सिलास बोला।

''वे लोग इस समय *'फलक्रम'* (धुरी) अखबार तैयार कर रहे हैं। तुम कार लेकर वहां पहुंच जाओ और समझा दो कि किस तरह ये लोग तुम्हारा नाजायज फायदा उठा रहे हैं। और चूंकि तुम इस बात के कायल हो कि एलेक ब्रैडी कम्युनिस्ट है, दुनिया में तुम्हारे दोनों हाथों में लड्डू ही लड्डू ही रहेंगे। और इतना और कर सकते हो कि छात्र-सभा को कम्युनिस्ट साजिश बताकर उसकी निंदा करते हो।''

''इससे तो बड़ी मदद मिलेगी'', सिलास ने टिप्पणी की।

''सिलास, तुम मुझसे क्या कहने की अपेक्षा करते हो? मैं सोचती हूं कि क्या हम इस देश के लोगों की तरह नहीं है या बहुत हद तक उन जैसे हैं? हमारा बहुमूल्य ज्ञानोदय एक प्रकार का अंधकार है, है कि नहीं? तुम कायर हो और वैसी ही मैं भी हूं। पहले मैं विनोदी होने का दिखावा कर रही थी, लेकिन मेरे हृदय-मन के दूसरे भाग के कहने का वही मतलब था, जो मैंने कहा। मैं डर रही हूं और मुझे पता ही नहीं है कि मैं डर कैसे गयी। यह सब पिछले चंद हफ्तों में नहीं हुआ। हो भी नहीं सकता था,'' माइरा बोलती गयी।

''और जब तुम मेरी ओर मुड़ती हो, तो सहारे के लिए कुछ भी मौजूद नहीं है, क्या है सहारा, माइरा।''

''मुझे पता नहीं,'' माइरा का जवाब था।

''यह क्या है,'' सिलास असहाय होने के अंदाज में बोला, ''मैं 40 वर्ष का हूं परन्तु लगता है, मुझमें मात्र शून्य व्याप्त है। मैं शिशु की भांति सोया करता था, लेकिन अब बिस्तर पर लेटे-लेटे सोचता रहता हूं कि बस थोड़ा-सा वक्त अपने पास बाकी है और मैं मर जाऊंगा। सहारे के लिए कुछ नहीं है, है क्या माइरा?''

''मुझे पता नहीं,'' माइरा बोली।

''क्या बात है?'' सिलास ने कुछ बेबसी के भाव से पूछा। ''मैं चालीस साल का हो चुका हूं, पर लगता है कि मुझमें रिक्तता के अलावा और कुछ नहीं है। पहले शिशु की भांति सोया करता था, पर अब बिस्तर में करवटें बदलते हुए सोचता रहता हूं कि अब थोड़ा-सा वक्त मेरे हिस्से में बाकी है, और फिर मर जाऊंगा। और मृत्यु की महज सच्चाई से ही जी खराब हो जाता है। मुझे भय लगता है।''

माइरा कुछ नहीं बोली, अंगारों को निहारती रही, जिसकी लौ की प्रतिच्छायाएं उसके चेहरे और नाक-नक्श पर खेलती लगतीं थीं। दोनों साथ-साथ बैठे थे—एक खूबसूरत, भरपूर शरीर और उतने ही सरस यौवन की स्वामिनी, जितना कि उसकी बगल में बैठा वह व्यक्ति शुष्क और रूखा था।

''क्या, माइरा, कभी तुम्हें इस पर अफसोस होता है कि तुमने मेरे साथ शादी की?'' सिलास ने पूछा।

''हां, कभी-कभी,'' माइरा ने उत्तर दिया, पर वह यह देखने के लिए छटपटा रही थी कि सिलास को क्रोध आये, उसकी भावनाओं का बांध टूटे, आपे-से बाहर हो जाये। पर वह जानती थी कि ऐसा नहीं होगा।

''तुम्हारे मापदण्ड के अनुरूप नहीं निकला मैं, सच है न? न तो धन-दौलत और न गरीबी। न तो खलनायक और न नायक।''

''ठीक है, ठीक है, चलो सोने चलते हैं,'' माइरा एकाएक कटु स्वर में बोली।''

'टाइम्स' अखबार में लिखा था : ''ऊंचा कद; ढीले-ढाले अंग; दूर की नजर कमजोर; सूखे रंगों से तैयार की गयी पुराने फैशन की एक ऐसी तस्वीर, जिसे देखकर लगे कि यह तो अध्यापक हो ही नहीं सकता; प्रोफेसर सिलास टिम्बरमन को देखकर यह सोचना भी कठिन है कि ऐसे व्यक्ति का कभी कोई विध्वंसकारी इरादा रहा हो।''

सुबह जब प्रोफेसर की आंख खुली, तो पानी बरस रहा था, हल्की, शरीर में झुरझुरी पैदा करने वाली अप्रिय फुहारें, और जिन्हें तेज और फुफकारें मारती तेज हवा के झोंके रुक-रुक कर चारों ओर बिखेर रहे थे। उसने मन ही मन कहा : ''शुक्र है खुदा का, आज कोई मीटिंग होने नहीं जा रही है।'' घर से रवाना होने तक बारिश थम गयी थी, लेकिन बाहर खूब ठंड थी, आकाश धुंधला था, तेज हवा चल रही थी।

'द ट्रिब्यून' अखबार में भी घबराहट का स्वर था लेकिन बहुत ज्यादा घबराहट का नहीं : ''यह महसूस कर राहत मिलती है कि इस तरह का अहमकपन अमरीका के लिए कोई नयी बात नहीं है। मुक्त हंसी ऐसी बीमारी का बहुत बढ़िया इलाज है। और यह याद रखना जरूरी है कि यह विध्वंसकों के विरुद्ध किसी असल और जरूरी मुहिम की सेवा नहीं है।''

वह सुसान एलन से मिला। ''क्या आज का यह मौसम मन को रिझाने वाला नहीं है,'' सुसान एलन उल्लासभरे स्वर में बोली। ''क्या तुम्हारा मन-चित्त ऐसी प्रचण्ड हवा के साथ उछलकर बल्लियों ऊपर नहीं पहुंचता? इस तरह के दिन पर तो मैं लट्टू हो जाती हूं। ऐसे दिन किसी और चीज के बजाय मेरा मन सीगल (समुद्री पक्षी) देखने के लिए ललचाया करता है।''

''तुम और बॉब आज मीटिंग में तो आ रहे हो न?'' उसने सुसान एलन से पूछा।

''बेशक आऊंगी। कम्युनिज्म से चाहे कितनी ही नफरत क्यों न हो, पर, सिलास, जब बेचारे प्रोफेसर एम्सटर्डम का ख्याल आता है—और यह सब इतने दिनों बाद—तो गुस्सा तो आता ही है और विरोध प्रकट करने की इच्छा होती है।''

'द सेंट लुई पोस्ट' अखबार ने, जिसका दफ्तर इस हलचलभरी घटना के समीप था, दूसरों से ज्यादा विषादपूर्ण दृष्टिकोण अपनाया: ''जहां तक हमारा ताल्लुक है, हम महसूस करते हैं कि मार्क ट्वेन की राजनीति के बारे में रिपोर्ट बहुत अतिरंजित हैं पर हम क्लेमिंग्टन के साहित्यिक निर्णयों से चाहे सहमत हों या न हों, **फलक्रम** से उसके छात्र-सम्पादक एल्विन मोर्स के हटाये जाने का समर्थन करना कठिन है। कालेजी अखबारी दुनिया में **फलक्रम** का सम्मानजनक स्थान है और बहुत से प्रतिष्ठित पत्रकारों ने पहले-पहल इसी के पन्नों में काम करना शुरू किया था। एल्विन मोर्स का कसूर हद से हद यह हो सकता है कि उसने सम्पादकीय निर्णय लेने की अयोग्यता का परिचय दिया। परन्तु कालेजी अखबारों की स्वतंत्रता इस बात का तकाजा करती है कि छात्र-सम्पादकों को गलतियां करने दी जायें और उन्हें अपनी गलतियों पर खेद की भावना झेलने दी जाये।''

सिलास के पहुंचने से पहले ही लारेंस काप्लिन दफ्तर में मौजूद था। उसने अनुभव किया कि सिलास के चेहरे पर कोई खास खुशी नहीं दिखायी दे रही है।

''लगता है, माइरा के साथ झगड़ा मेरे मूड के खराब होने का सबसे बड़ा कारण है,'' सिलास ने कहा। वह इतना उद्वेलित था कि उसने किसी और से ऐसे मसलों पर चर्चा न करने के अपने उस नियम का उल्लंघन किया था, जिसका वह लम्बे अरसे से पालन करता आया था। ''लगता है, माइरा को समझने में अधिकाधिक असमर्थ होता जा रहा हूं।

''बात यह है कि हम सब उन नारियों को समझने में उत्तरोत्तर असमर्थ होते जाते हैं, जिनसे हम विवाह के सूत्रों में बंधे होते हैं। परन्तु अपने पति के प्रति पत्नी के साथ भी ऐसा ही होता है। यह कोई महज घिसी-पिटी बात नहीं है। अन्य क्षेत्रों की ही तरह यहां भी हम जो बोते हैं, वही फसल पाते हैं। दोपहर बाद से तुम्हारे शब्द सुनने का इंतजार कर रहा हूं मैं। मुझे आशा है कि मीटिंग बड़ी होगी; विषाद के वातावरण को मिटाने के लिए काफी बड़ी होगी!''

''मेरे अनुमान से भी काफी बड़ी,'' काप्लिन ने मुस्कुराते हुए पर कुछ उदास भरे स्वर में कहा।

शिकागो के प्रमुख प्रादेशिक अखबार के पास खुशी मनाने का कारण है। ''यह देखने से बहुत सन्तोष मिलता है कि क्लेमिंगटन के प्रेजीडेंट एंटनी सी. कैबट की स्थिति के प्रति प्रतिक्रिया कितनी तीक्ष्ण रही, जो अन्यथा घोर असुखद सिद्ध हो जाती। **फलक्रम** के पहले अंक में उनका यह बयान कि वह क्लेमिंग्टन के संकाय के लिए वफादारी की शपथ की व्यवस्था का स्वागत करेंगे, गलतफहमियों के वातावरण को मिटाने में मदद देता है। हम तो नये सम्पादक के मातहत तमाम सरकारी शिक्षा संस्थानों के तमाम अध्यापकों के लिए और क्लेमिंग्टन की तरह के करों से छूट पाने वाले तमाम संस्थानों में भी वफादारी की शपथ लागू करने के लम्बे अर्से से पैरवीकार रहे हैं। यह दावा करना तो कीचड़ उछालना है कि वफादारी की शपथ लेना मुक्त शिक्षा से मेल नहीं खाता। जो व्यक्ति अपने देश के प्रति वफादारी की शपथ लेने से इंकार करता है, विध्वंसकारी घोषित किसी भी संगठन का सदस्य न होने की शपथ नहीं लेता, वह हमारे राष्ट्र के बच्चों को पढ़ाने के योग्य नहीं है।''

''कितना लम्बा अर्सा गुजर चुका है, जब मैं रटे-रटाये ढंग से पढ़ाता था, अपनी क्लासों में यंत्रवत पहुंचा करता था—कितना अर्सा गुजर चुका है'', सिलास ने अपने से पूछा। ''क्या दो ही हफ्ते, महज दो हफ्ते?'' वह सोच रहा था।

और गलियारे में उसकी एड लिंडफेस्ट से मुलाकात हुई। दोनों के पांव एक क्षण के लिए रुके, दुआ-सलामत करने से पहले खामोशी से एक-दूसरे को देखते रहे। पर दुआ-सलामी करना तो जरूरी था। आखिर लोग सभ्यता के भव्य-भवन के अन्दर ही तो जीते हैं।

''हैलो, ऐड'' सिलास ने आखिर खामोशी तोड़ते हुए कहा।

लिंडफेस्ट ने हल्के सिर नवाया और आगे बढ़ गया।

''लगता है, आज कोसा जाने वाला हूं,'' सिलास मन में बोला और उस दिन वह पहली बार मुस्कराया।

पूर्वी प्रदेश के *'मिरर'* अखबार ने अपनी बात बिना किसी लाग-लपेट के और भावपूर्ण ढंग से पेश की : ''हमारे दिल में किसी भी जगह के *कौमीज़* (कम्युनिस्टों से नफरत करने वाले लोगों द्वारा उनके लिए प्रयुक्त फिकरा-अनु.) के प्रति लेशमात्र मृदुभाव नहीं है और स्कूलों में तो उनकी उपस्थिति हम और भी कम पसन्द करते हैं। फिर ऐसी भी तो कोई चीज नहीं है, जिसे बच्चे *कौमीज़* से सीखें। उन्हें जितनी जल्दी हमारी शिक्षा-प्रणाली से बाहर धकेल दिया जाये, हमारे लिए उतना ही ज्यादा अच्छा होगा, भले ही इस प्रक्रिया में चंद संवेदनशील आत्माओं को ठेस लगे। जहां तक मार्क ट्वेन का सरोकार है, हम यह भविष्यवाणी करने का साहस करते हैं कि वह इस घटना-प्रवाह को झेल जायेंगे।''

जब सिलास दोपहर बाद दो बजे ह्विट्टियर हाल से बाहर निकला, तो वहां माइरा अप्रत्याशित रूप से उसका इन्तजार कर रही थी। वह उसे देखकर मुस्करायी, सिलास ने भी हल्के ढंग से मुस्कान का जवाब दिया। यह क्षणभर के लिए दुबारा तरुणाई की दुनिया में लौटना था, यह प्रेम-परिणय की भावनाओं का फिर जग उठना था, उस व्यक्ति की झलक और ध्वनि में विलय हो जाना था, जिससे प्यार किया जाता है।

''मैंने सोचा, तुम्हें किसी के संग की जरूरत होगी,'' माइरा बोली।

''ऐसा सोचा तुमने?'' सिलास ने पूछा।

''हूं... तुम्हारा बयान कैसा है, कुछ लिखकर लाये हो?''

''नहीं, पर मैं काम चला लूंगा। चंद शब्द बोलूंगा, सब ठीक रहेगा। तुम आयी, मुझे खुशी हो रही है।''

उन्होंने एक-दूसरे की बांह में बांह डाली। अब बारिश नहीं हो रही थी। परन्तु ठंड थी और हवा तेज चल रही थी। आकाश मटमैले-से बादलों से ढंका था। अगल-बगल के लॉनों और उनके बीच के रास्तों में बिछी हुई थी सड़ और गल चुकी पत्तियां, घास की गीली गलीचानुमा क्यारियों पर नाचती, झूमती

ताजा पत्तियां। वे ह्विट्टियर हाल के पास खड़े थे परन्तु पूरे कैम्पस में दूर-दूर तक जहां तक नजर दौड़ सकती थी, वे यूनियन प्लाजा में खड़े गृहयुद्ध के स्मारक के चारों ओर छात्रों के झुंड एकत्र होते देख सकते थे। परन्तु उनके अलावा भी सैकड़ों अन्य छात्र थे, जो कैम्पस में आड़ी-तिरछी कतारों में चल रहे थे। उनके चेहरों पर बेफिक्री साफ नजर आ रही थी। तब सिलास ने महसूस किया कि उसकी जिन्दगी में इतनी गहरी घटनाओं ने इसी जगह दूसरे बहुत-से लोगों को अछूता, उदासीन छोड़ दिया है। क्या सर्वत्र, पूरे देश में ऐसा ही हो रहा है; क्या हरेक अपने-अपने क्षुद्र संतापों में अकेले खड़ा है?

''वे यह नहीं समझ पा रहे हैं और उन्हें इसकी परवाह नहीं है कि खतरे की यह घंटी किसके लिए बज रही है,'' सिलास मन ही मन सोच रहा था। फिर उसे याद आया कि चन्द हफ्ते पहले वह भी तो उनकी ही तरह कोई परवाह नहीं किया करता था। *''तुम अपनी ढपली बजाओ, मैं अपनी।''*

माइरा ने उसके चेहरे पर विषाद की छाया देखी और उसे सदमा-सा लगा।

''सिलास!''

''कुछ नहीं, कुछ नहीं,'' सिलास बोला और वह मुस्कराया, जिसमें कोई बनावटीपन नहीं था। एक वक्त था, जब कोई मनोभाव एक लम्बे अर्से तक, स्थायी रूप से, समतल ढंग से उसके दिलो-दिमाग पर छाया रहता था। लेकिन इधर उसे कई चीजों ने झकझोर दिया और नतीजतन एक तरह का मनोभाव पैदा होता और गायब हो जाता, उसका स्थान दूसरा मनोभाव ले लेता।

''कैसा महसूस कर रहे हो?'' माइरा ने पूछा।

''तुम जानती हो, क्या महसूस कर रहा हूं—ऐसा महसूस कर रहा हूं मानो हम दोनों अभी-अभी मिले हैं और मैं तुमसे प्यार करता हूं और मुझे डर लगता है कि इस प्यार का प्रतिदान नहीं कर पाऊंगा। ऐसा महसूस कर रहा हूं।''

''यह तो सबसे ज्यादा मनमोहक बात है, जो तुमने एक लम्बे, बहुत लम्बे अर्से के बाद मुझसे कही है, सिलास'' माइरा बोली, फिर भी वह चिन्ताभरी दृष्टि से देख रही थी। ''कल रात जो हुआ, उसके लिए मुझे अफसोस है। मेरे बारे में चिन्ता मत करो, सिलास। क्या तुम यह नहीं समझते कि मैं तुम्हारा साथ कभी नहीं छोड़ूंगी? मैं तुम्हारे साथ-साथ रहूंगी।'' वे बांह में बांह डाले कैम्पस में आगे बढ़ते रहे, हवा अधिकाधिक ठंडी होती जा रही थी, अधिकाधिक उग्र रूप धारण करती जा रही थी। ''यह तो मीटिंग के लिए अच्छा लक्षण नहीं है। ठीक कहा मैंने,'' माइरा ने पूछा।

''पता नहीं,'' सिलास ने जवाब दिया और सच्ची बात तो यह है कि ऐसी चीजों के बारे में वह बहुत कम या बिलकुल ही नहीं जानता था। उसे तो यह भी पता नहीं था कि खुले आकाश के नीचे विरोध-सभा से क्या अपेक्षा की जा सकती है—फिर भी एक दुनिया ऐसी थी, जहां कुछ भी आसानी से, नरमी से हासिल नहीं होती, जहां हर चीज के लिए लड़ना पड़ता है, जहां बार-बार लोगों के कंधा से कंधा मिलाना पड़ता है, क्योंकि उनके पास अपनी तादाद, अपने सैकड़ों नंगे हाथों, एक साथ रोष भरा स्वर बुलन्द करने के अलावा और कोई ताकत नहीं है। ज्यों-ज्यों वे प्रदर्शन के लिए जमा हो रहे छात्रों की भीड़ और फैकल्टी की सभा-स्थली के समीप पहुंच रहे थे, माइरा का दिल अप्रत्याशित ढंग से बल्लियों ऊपर उछल पड़ा; आकाश और हवा का अनियंत्रित बीहड़ फैलाव मानो उसके कदम से कदम मिलाना चाहता हो, यौवन, शक्ति और गर्व की भावना उसके मन में हिलोरें ले रही थी, उसमें एक विचित्र प्रकार का उल्लास पैदा कर रही थी, इस कारण उसने अपनी बाहों से सिलास की कमर को कस कर घेर लिया, अपने शरीर को उसके शरीर से सटाते हुए चलने लगी। उधर सिलास का दिमाग विचरण कर रहा था पीछे छूट चुकी अपनी जवानी के दिनों की यादों के गलियारे में : छोटा-सा, मौसम की बुरी तरह थपेड़ें खाया हुआ जर्जर मकान; यहां से पिता पैदल आरा मिल में काम करने जाया करते थे; उसके बाद दूसरी मिल में, फिर उसके बंद होने पर तीसरी मिल, रिहायश के लिए एक के बाद दूसरा घर; वृक्ष कटने के कारण नंगी पड़ी धरती; इस पर चलता पिता, थकी-मांदी कमर झुकी हुई, काम के बोझ से टूटी हुई कमर, जिसके पास अपने बेटे के अलावा, जो हाथों के श्रम के नहीं वरन अपने ज्ञान की सम्पदा के बल जीविका चलायेगा, और कोई गर्व योग्य वस्तु या सम्पदा नहीं थी।

जब सिलास गृहयुद्ध के स्मारक के नीचे चौड़े प्रस्तर से बने चबूतरे पर बोलने के लिए खड़ा हुआ, तो उसके पीछे खड़ी थी एक पत्थर की मूर्ति, उस व्यक्ति की मूर्ति, जिसके चेहरे पर दाढ़ी थी, करुणामय, बहुत ऊंची, कृत्रिमता से मुक्त, बाजू एक घायल लड़के को सहारा दिये हुए—कितने अचरज की बात है कि यह दृश्य याद दिला रहा था कि वे लड़ाइयां लड़ी थीं लड़कों ने। बोलने के लिए खड़े सिलास को पता था कि उसे क्या कहना है, हालांकि सिर्फ चन्द क्षण पहले उसके सचेतन मन को भी इसका पता नहीं था। वह खड़ा था माइक्रोफोन के सामने, मुंह उठाये हुए लगभग एक हजार व्यक्तियों पर नजर दौड़ाता हुआ। शुरू-शुरू में वह बहुत घबराया हुआ था, हाथ जेबों के अंदर थे, हथेलियां पसीने से गीली थीं, कालर तक गीला हो गया लगता था। पर तब घबराहट मिट गयी और वह अब बिलकुल स्थिरचित्त हो गया था। उसे देखते और सुनते हुए माइरा और दूसरे बहुत-से लोगों के लिए यह प्रत्यक्ष था कि विशाल, पुरानी प्रस्तरीय मूर्ति के मानों चौखट के बीच खड़ी ऊंचे कद की, सौम्य मुखाकृति वाली, प्रचण्ड आकाश के नीचे हवा के झोंकों के बीच खड़ी यह सचमुच रोमांचकारी, अविस्मरणीय आकृति थी। वह तर्क और विवेक के दम तोड़ रहे इस युग में खुद तर्क और विवेक का जीता-जागता प्रतीक थी। परन्तु जहां तक स्वयं सिलास का सवाल था, उसका मन एक-दूसरे से टकराते और गड्डमड्ड होते विचारों के समाधान की अपनी ही तलाश पर केन्द्रित था। और इस तरह वह जब बोल रहा था, तो उसने अतीत को आत्म-दाह करने दिया, हालांकि उसे इस बात का आभास था कि भविष्य बहुत ही संदिग्ध है। अभी तक उसका कोई रूप तक नहीं बना है। वह बहुत धीमी गति से, शान्त भाव से बोल रहा था, पर जिस ढंग

से छात्रों के हाथों से तैयार ध्वनि-प्रसारक यंत्र उसकी आवाज को प्रक्षेपित कर रहा था, उस पर उसे एक तरह अचरज हो रहा था, खुशी हो रही थी। और ज्यों-ज्यों वह बोलता चला गया, उसकी आवाज अधिक तीक्ष्ण, अधिक कठोर होती गयी। पर उसने शुरू-शुरू में बड़े शान्त भाव से कहा :

''आज तक मैं काफी अकेलापन महसूस कर रहा था। आसपास चंद दोस्त जरूर हुआ करते थे, पर वे इतने नहीं थे कि मुझे अकेलापन महसूस करने से रोक पाते। अब मैं आगे से अकेला नहीं रहूंगा। मुझे नहीं मालूम कि इस शर्मनाक काण्ड का अन्त कैसे होगा। फिर भी अगर कैम्पस में आगे चलकर आज जितनी बड़ी, दिल में जोश पैदा करने वाली ऐसी मीटिंग न भी हो, तब भी मुझे हमेशा याद रहेगा कि हमारे सैकड़ों छात्रों के पास अपनी-अपनी भावनाएं मुखरित करने के लिए आवाज और अनुभव करने के लिए हृदय हैं।

''पिछली रात मैं सोच रहा था कि मैं अपने दोस्त प्रोफेसर एम्सटर्डम के बारे में बोलूंगा। उनका स्थान मेरे हृदय में है, मैं उन्हें प्यार करता हूं, उनका सम्मान करता हूं। परन्तु उनकी पैरवी करना मेरे लिए अशोभनीय होता। उन्हें इसकी जरूरत भी नहीं है कि कोई उनकी पैरवी करे, इज्जतदार आदमियों को किसी से चरित्र-प्रमाणपत्र की कभी आवश्यकता नहीं पड़ती। इसके बजाय मैं उस कार्रवाई की तह में मौजूद चीज के बारे में बोलना चाहता हूं, जो उनके खिलाफ की गयी है। मैं बोलना चाहता हूं देश के एक छोर से दूसरे छोर तक फैल रहे भय और आतंक के संज्ञाहीन बनाने वाले बादलों के बारे में।

''यह अजीब-सी स्वेच्छाचारिता है, बेशक स्वेच्छाचारिता है। हममें से अधिकांश मानने को तैयार नहीं होंगे कि यह स्वेच्छाचारिता है और इस तरह उन्हें उसका सामना नहीं करना पड़ेगा। यह ऐसी स्वेच्छाचारिता है, जिसके साथ जीना आसान है, क्योंकि वह एक ही कीमत मांगती है—आत्मसम्मान और विवेक को दूसरों के चरणों में समर्पित कर देना और ऐसा लग रहा है कि हम तेजी से उस जगह पहुंच रहे हैं, जहां विवेक के प्रति केवल घृणा-तिरस्कार का भाव होगा और आत्म-गौरव के बारे में बाबा आदम के जमाने की समझ होगी। यह मैं विनम्र स्वर से कह रहा हूं, क्योंकि चंद हफ्ते पहले तक मैं उन लोगों में से था, जो कठोरतापूर्वक इस बात से इंकार करते थे कि इस देश में स्वेच्छाचारिता विद्यमान है, कि मैं भी अपनी उसी शिक्षा की प्रक्रिया का अंग हूं, जिसे आप सब, सच तो यह है कि पूरी दुनिया अब तक जान गयी है और जो हमारे लिए चुल्लू भर पानी में डूब मरने की बात है।

''अब फैकल्टी के एक पुराने, श्रद्धास्पद सदस्य को मुअत्तल कर दिया गया है। मुझे पता है कि मानवजाति मनुष्यों के प्रति क्रूरता बरतने के साधन ईजाद करने में अत्यन्त प्रवीण है। इसलिए किसी अध्यापक की सार्वजनिक तौर पर बर्खास्तगी और अपमान ऐसे सबसे कुत्सित दंड नहीं हैं, जिन्हें मनुष्य को भुगतना पड़ सकता है। पर जरा सोचिये तो, इसका अर्थ क्या है? यह तो मनुष्य के शरीर के उस भाग की मृत्यु है, जो उसका सर्वोत्तम अंग है, शायद वह अंग है, जिसे वह दूसरों को सौंप सकता है, ताकि उसके जीवन का कुछ अर्थ हो, उपयोग हो। और यह सोचना निस्संदेह भोलापन है कि इस तरह से उस मुअत्तिल अध्यापक को, जिसके सिर पर तथाकथित राजनीतिक-नैतिक बादल मंडराता रहे, किसी दूसरे स्कूल में आसानी से जगह मिल जायेगी। नहीं मिल सकती। तब वह विदा हो सकता है, यह दिखावा कर सकता है कि वह अपने संस्मरण लिख रहा है, होरेस की कृतियों का नये सिरे से अनुवाद कर रहा है। वह यह तब ही कर सकता है, जब आर्थिक दृष्टि से उसकी स्थिति मजबूत हो। और अगर ऐसा नहीं है—और सवाल उठता है कि किसी अध्यापक के पास क्या दौलत-सम्पत्ति है—तो वह नौकरी की तलाश में चक्कर काटते हुए अपने जूते के तले घिस सकता है, इस उम्मीद में कि कोई उसे अपने यहां रख लेगा।

''यह मैं किसी प्राचीन ज्ञान को पेश नहीं कर रहा हूं। यह तो मैंने संतापभरे दो हफ्तों में सीखा, परन्तु ऐसे आधार पर टिक कर सीखा, जो अस्तित्वमान था और मैं आपसे कहना चाहता हूं कि वह अमरीका में हर अध्यापक के लिए विद्यमान है। हम भय के बीच जी रहे हैं, भय के बीच काम कर रहे हैं और हममें से अधिकांश जोर से चीखते हैं और भी ज्यादा जोर से चीखते हैं कि हम डरते नहीं हैं। यह जो हमारा शक्तिशाली कवच है, दरअसल कागजी कवच है, और कुछ नहीं। यह सब हम हिटलर के जर्मनी में देख चुके हैं।''

किसी ने उसे यहां टोका। इस मौके पर कोई जोरों से, कर्कशपूर्ण परन्तु बिल्कुल साफ-साफ ढंग से चिल्लाया : ''और सोवियत रूस में?''

सिलास रुक गया, उसके विचारों की श्रृंखला टूट गयी, उसका शरीर एकाएक ऐसा सख्त हो गया लगता था, मानो उसे पक्षाघात हो गया हो; शरीर का तनाव फिर धीरे-धीरे परन्तु पीड़ादायी ढंग से ढीला होना शुरू हुआ। वह जो कुछ बाकी बोलना चाहता था, उसके मस्तिष्क से लुप्त हो गया और कहने के लिए बस ये चंद शब्द ही बाकी रहे: ''मैं सोवियत रूस के बारे में कुछ नहीं जानता। और अमरीका के बारे में तो बहुत ही कम जानता हूं, बहुत ही क्षुद्र मात्रा में जानता हूं।''

माइरा ने उसे बताया कि उसका वक्तृत्व अच्छा रहा, बहुत अच्छा रहा—दो टूक ढंग का, सुस्पष्ट, बिल्कुल मुद्दे की बात और साफगोई, जैसा कि उत्कृष्ट भाषणों के मामले में होता है। पर वह अपने मन पर पड़ी यह पक्की छाप नहीं मिटा सका कि वह नाकामयाब रहा है। वह बहुत कम बोला और जितना कुछ बोला, अच्छी तरह नहीं बोल पाया। वह आइक एम्सटर्डम की बहाली की पैरवी नहीं कर सका हालांकि उसका आखिर तो यही करने का इरादा था। और वह एलन मोर्स के बारे में भी एक शब्द नहीं बोल पाया। फिर मानो विचार ने कोई जादू कर दिया हो और मोर्स भीड़ को चीरते हुए उसके पास पहुंच गया। साथ में हार्टमन स्पेंसर और दो अन्य छात्र भी उसके साथ आये।

''मैं आपका शुक्रिया अदा करना चाहता हूं,'' मोर्स ने खुले भाव पर संजीदे ढंग से सिलास से कहा। ''यह हिम्मत की बात थी।'' सिलास ने इस ओर ध्यान ही नहीं दिया कि मोर्स का कद कितना छोटा है, चेहरा देखने में कितना मुरझाया हुआ है और उस पर क्लेश की छाप है, मानो चार्ल्स डिकेन्स की पुस्तक से बाहर निकला हो, सिर एक ओर ऐसे झुका हुआ जैसे

उसे जोर लगाना पड़ रहा हो। हूबहू क्रुइकशांक* की चित्रमाला के पात्र की तरह। वह आकर्षक नहीं था, उसके बारे में दो बार सोचना पड़ता, तब कहीं यह नजर आता कि उसकी आंखों में आग की कैसी लपटें हैं, उसके शरीर में कितनी उत्कण्ठा और तनाव है। उसके बाद तो उसे पसन्द किये बिना, उसका प्रशंसक हुए बिना नहीं रहा जा सकता था। पहले लेनोक्स और फिर मोर्स—तब सिलास के दिमाग में यह विचार उठा कि क्लेमिंग्टन में इतने साल गुजारने पर भी उसने छात्रों को आज से पहले कभी नहीं पहचाना था, कम से कम इस तरह तो नहीं, कि दो मनुष्य बिल्कुल रू-ब-रू, उनके बीच कोई मंच नहीं। वह मोर्स को समझाने लगा कि उसने *'फलक्रम'* से उसके हटाये जाने के बारे में कुछ क्यों नहीं कहा। मोर्स ने सिर हिलाया।

''बात वह नहीं है, सर। आपने जो कहा, वह बिल्कुल कांटे की बात थी। मुझे तो कोई खतरा नहीं है, पर आपको है, सर।''

अनुवाद : **सुरेन्द्र कुमार**

* **क्रुइकशांक :** शुरुआती पूंजीवाद के बर्बर शोषण को दर्शाने वाले चार्ल्स डिकेंस के उपन्यासों का चित्रांकन करने वाले अंग्रेज चित्रकार

''हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य को समाप्त करने का एक तरीका है कि ग्राम-संगठन के कार्य को हाथ में लेकर बिना भेदभाव के भारत के दीन किसानों की सेवा की जाये। उसीतरह शहर के मिलों में काम करने वाले लाखों-मजदूरों के संगठनों की भी आवश्यकता है। किसानों और मजदूरों का युग आ गया है। थोथी राजनीति से अब काम नहीं चलेगा।'' – गणेश शंकर विद्यार्थी

रामकरण सिंह
सह-प्रशिक्षक (प्रसार शिक्षा)
कृषि विज्ञान केन्द्र,
धमोरा, रामपुर-243701 (उ.प्र.)

क्रान्तिकारी नवजागरण की मुहिम में 'दायित्वबोध' को शुभकामनाओं सहित

महेश चन्द्र सचान
11, न्यू मार्केट, पन्तनगर
गो.व.पंत कृषि एवं प्रौद्योगिकी वि.वि.
पन्तनगर, ऊधमसिंहनगर (उत्तरांचल)

दायित्वबोध यहां से प्राप्त करें

उत्तर प्रदेश • संस्कृति कुटीर, कल्याणपुर, **गोरखपुर** • जनचेतना, जाफरा बाजार, **गोरखपुर** • विजय इन्फार्मेशन सेंटर, कचहरी बस स्टैण्ड, **गोरखपुर** • राहुल फाउण्डेशन, 3/274, विश्वास खण्ड, गोमतीनगर, **लखनऊ** • जनचेतना स्टाल, निकट काफी हाउस, हजरतगंज, **लखनऊ** (शाम पांच से साढ़े आठ) • ओ.पी. सिन्हा, 69, बाबा का पुरवा, निशातगंज, **लखनऊ** • विमल कुमार, मैग्जीन स्टाल, निकट नीलगिरि काम्प्लेक्स, ए ब्लाक, इंदिरानगर, **लखनऊ** • इण्डियन बुक डिपो, अमीनाबाद, **लखनऊ** • विश्वनाथ मिश्र, चेतना कार्यालय, **बड़हलगंज**, **गोरखपुर** • शहीद पुस्तकालय, द्वारा, डा. दूधनाथ, जनगण होम्यो सेवा सदन, **मर्यादपुर, मऊ** • कृष्णगोविन्द सिंह, बी-18, बिड़ला छात्रावास, बीएचयू, **वाराणसी** • श्री मुचकुंद, प्रोग्रेसिव बुक सेंटर, विश्वनाथ मंदिर गेट,बीएचयू, **वाराणसी** • प्रो. प्यारेलाल, 139, फूलबाग कालोनी, पंतनगर कृषि विश्वविद्यालय, **पंतनगर** • डी.के. सचान, कृषि विज्ञान केन्द्र, 243, विकास भवन, नई कलक्ट्रेट, गाजियाबाद • रवीन्द्र कुमार, भारतीय जीवन बीमा निगम, शाखा कार्यालय, **पंतनगर** • करेंट बुक डिपो, 18/53, माल रोड, (फूलबाग के सामने), **कानपुर** • प्रतिभा प्रकाशन, (पेप्सी होटल के नीचे), स्टेशन रोड, **बलिया** • राजेन्द्र प्रसाद, रेणु मेडिकल की गली, मुख्य सड़क, रेणुकूट, **सोनभद्र** • नेशनल न्यूज एजेन्सी, पल्टन बाजार, **देहरादून** • डा. पी.एस. कुशवाहा, ओल्ड हास्टल, सेंट जॉन्स कालेज, आगरा-2

दिल्ली • सत्यम वर्मा, 81, समाचार अपार्टमेंट, मयूर विहार फेज-एक • बुक कार्नर, श्रीराम सेंटर, मण्डी हाउस • गीता बुक सेण्टर, शापिंग काम्प्लेक्स, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय • पत्रिका मण्डप, दिल्ली वि.वि. कोआपरेटिव स्टोर्स लि., दिल्ली विश्वविद्यालय • पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, मरीना होटल बिल्डिंग, कनाट प्लेस • पीपुल ट्री, 8, रीगल बिल्डिंग, कनाट प्लेस • विजय मैग्जीन स्टाल, रिजर्व बैंक के पास, संसद मार्ग

बिहार • समकालीन प्रकाशन, पुस्तक बिक्री केन्द्र, आजाद मार्केट, पीरमुहानी, **पटना** • पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, पटना कालेज के सामने, **पटना** • जिज्ञासा प्रकाशन, झेलम अपार्टमेंट, राजेन्द्रनगर, **पटना** • मैग्जीन कार्नर, नाला रोड, दिनकर चौक, **पटना** • अविनाश कुमार सिन्हा/रणजीत कुमार श्रीवास्तव, द्वारा, शैलेन्द्र श्रीवास्तव, बरियारी चक, पो. **मेंहसी, पूर्वी चम्पारण** • वी. प्रशान्त, कन्हौली (बी. एम.पी.-6 से पूरब), **मुजफ्फरपुर** • रामपुकार सिंह, ग्रा. पो.भदई, जि.-**मुजफ्फरपुर** • विद्यानन्द सिंह, वार्ड न. 4, **सुपौल** • भुवन वेणु, 'प्रतीक्षा', मधुबनी, चूनापुर रोड, **पूर्णिया** • लक्ष्मीकांत मुकुल, द्वारा श्री सिंहासन मिश्र, टीचर्स कालोनी, चरित्रवन, **बक्सर** • कौशल कुमार सिंह, पूर्व सचिव, जिला विधिज्ञ संघ, **गोपालगंज** • गोवर्धन सिंह, ग्रा. चुटिया, पो. गोदरमाना, थाना-रंका **(गढ़वा)** -**822125**

महाराष्ट्र • परिदृश्य प्रकाशन, 6, दादी संतुक लेन, इंजीनियर हाउस, धोबी तालाब, **मुम्बई** • सतीश कालसेकर, पीपुल्स बुक हाउस, मेहर हाउस, 15, कावसजी पटेल स्ट्रीट, फोर्ट, **मुम्बई** • शैलेश वाकड़े, विजयालक्ष्मी नगर, टीचर्स कालोनी, बल्लारपुर, **चन्द्रपुर** • सूर्यदेव उपाध्याय, लेनिन लाइब्रेरी, उल्हासनगर, जि.-**ठाणे**

हिमाचल प्रदेश • एस.आर. हरनोट, हिमाचल पर्यटन विकास निगम, रिट्ज एनेक्सी, **शिमला**

हरियाणा • नरभिंडर सिंह, शहीद भगतसिंह विचार मंच, हरियाणा, ग्रा.-पो.-संतनगर, जि.-**सिरसा** • राजीव रंजन, द्वारा पाश पुस्तकालय, पुलिस लाइन, **करनाल** • सुरेश जांगिड़, अक्षर धाम, सुकीर्ति प्रिंटर्स, डी.सी. निवास के सामने, करनाल रोड, **कैथल**

राजस्थान • चन्द्रशेखर, लोकायत प्रकाशन, 883, लोधों की गली, एम.डी. रोड, **जयपुर** • सुभाष शर्मा, 221, उत्तरी सुन्दरवास, उदयपुर

प. बंगाल • श्याम अविनाश, पी.एन. घोष स्ट्रीट, **पुरुलिया** • राकेश गोरखा, सरस्वती पुस्तक मन्दिर, प्रधाननगर, सिलीगुड़ी, **दार्जीलिंग** • बुक मार्क, 6, बंकिम चटर्जी स्ट्रीट, **कलकत्ता** • न्यू होराइजन बुक ट्रस्ट, 57/1, पटुआटोला लेन, **कलकत्ता** • जनार्दन थापा, लुकसान बाजार, पो.आ.-केरन, जि.-**जलपाईगुड़ी** • ओमप्रकाश पाण्डेय, प्राध्यापक, 35/डी, सेंट्रल कालोनी, पो. भक्तिनगर, **न्यू जलपाईगुड़ी** • सी.पी. सरोज, सनराइज स्कूल, छोटा अदलपुर, सेमलबाड़ी, **दार्जीलिंग**

आन्ध्र प्रदेश • गोविन्द अक्षय, 'सारस्वत सदन', 13/6/411/2, रामसिंहपुरा, कारवान, **हैदराबाद**

मध्यप्रदेश • जयप्रकाश जायसवाल, 'पितृछाया,' अमृत सागर कालोनी, एम.आई.जी. 96-97, **रतलाम** • चिंचोलकर बुक हाउस, बस स्टैण्ड, **जगदलपुर**, **बस्तर** • 'विकल्प' सांस्कृतिक मोर्चा, 22, स्वास्तिक काम्प्लेक्स, रसल चौक, **जबलपुर** ***असम*** • शर्मा बुक स्टाल, थाना रोड, चराली, **तिनसुकिया**

नेपाल • विश्व नेपाली पुस्तक सदन, श्रवणपथ, **बुटवल, रुपनदेई** •

कार्ल हाइनरिख मार्क्स

• हान्स माग्नुस एंत्सेंसबर्गर

येहोवा-सदृश दाढी वाले
ओ विराटकाय पितामह,
भूरे डेगारोटाइप छायांकनों में
हिमश्वेत पृष्ठभूमि पर
देखता हूं तुम्हारी मुखच्छवि—
निर्भीक और संघर्षशील,
और लीनेन छापे में तुम्हारे कागजात :
बूचड़ के भुगतान-बिल
गिरफ्तारी वारंट
उद्घाटन भाषण।

देखता हूं तुम्हारा संगीन हुलिया
फरारी रजिस्टर में—
शातिर देशद्रोही
जलावतन शख्स
फतुही और पुछल्लेदार कोट में,
बला का चौकन्ना
तुम्हारा आमाशय
नमकयुक्त सिरके, शराब
और कड़े चुरुटों से झुलसा हुआ।

देखता हूं र्‌यु डि'एलाइंस पर स्थित
तुम्हारा घर—
डीन स्ट्रीट, ग्राफ्टन टेरेस पर
एक दीर्घकाय बुर्जुआ
एक पारिवारिक तानाशाह
घिसे स्लीपरों में :
कालिख और 'तंगदस्ती'*
सूदखोरी 'बदस्तूर',*
बच्चों की अर्थियां
और प्रेम-सम्बन्धों की घिनौनी अफवाहें,
तुम्हारे फरिश्ते के हाथ में
कोई मशीनगन नहीं :
देखता हूं पुरसुकून नजरों
ब्रिटिश म्युजियम में
हरी चिमनी की रोशनी में
बेहद सधे हाथों अपना खुद का घर उजाड़ते हुए
दूसरे घरों की सेहममंदी के लिए,
जिन्हें तुम खुद कभी नहीं बैपर पाये,
ओ महान् संस्थापक,
ओ महर्षि
देखता हूं कि तुम्हारे अपने अनुयायियों ने ही
धोखा किया तुम्हारे साथ :
बेशक तुम्हारे दुश्मन वही बने रहे
जो वे थे :
देखता हूं अप्रैल बयासी की**
अन्तिम तस्वीर में तुम्हारी मुखच्छवि :
एक लौह आवरण—
वह लौह आवरण मुक्ति का।

* 1859-60 में मार्क्स द्वारा एंगेल्स को लिखे गये पत्रों में आये शब्द 'इकोनॉमिक शिट' और 'ऐज यूजुअल'
** अप्रैल 1882 ई.

हिन्दी प्रस्तुति : **सुरेश सलिल**
कवि के 'ब्रेले' (1864) संग्रह से उद्धृत यह हिन्दी अनुवाद मिशेल हम्बुर्गर के अंग्रेजी मसौदे पर आधारित है।

नये इन्तिफादा की उद्घोषणा फलस्तीनी राष्ट्र का सवाल लटकाकर पश्चिम एशिया में ''शान्ति'' का मंसूबा पूरा नहीं हो सकता

इस्रायली कब्जे वाले क्षेत्रों गाजा पट्टी और पश्चिमी तट में **नये इन्तिफादा** की शुरुआत ने एक बार फिर यह उद्घोषित कर दिया है कि फलस्तीनी राष्ट्र के सवाल को लटकाकर पश्चिम-एशिया में ''शान्ति'' कायम करने का मंसूबा पूरा नहीं हो सकता। इस्रायल का नवनिर्वाचित प्रधानमंत्री एरियल शैरोन भी जब औपचारिक रूप से कामकाज संभालेगा, तो यह सच्चाई उसकी मगरूरियत का कान चबाती रहेगी।

इस्रायली शासकों को यह गुमान भी नहीं था कि 1993 के ओस्लो समझौते के बाद अमेरिकी सरपरस्ती में ''शान्ति'' की जो कूटनीति वे खेल रहे हैं उसके खिलाफ फलस्तीनी अवाम के दिलों में नफरत की कितनी आग जमा होती जा रही है। साम्राज्यवादी-जियनवादी गंठजोड़ ने तो यह गुमान पाला था कि इन्तिफादा के पहले ज्वार (1987-1992) को शान्ति-समझौते के छींटों से शान्त कर वे पश्चिम एशिया में अपनी चौधराहट को मनमाफिक शक्ल में ढाल लेंगे। इसी बदगुमानी में इस्रायली शासक समझौते के बाद फलस्तीनी नेतृत्व को वार्ताओं के खम्भे पर चढ़ाते-उतारते रहने की निरर्थक कवायद से थकाते रहे और समझौते में किये गये वायदों से मुकरते रहे।

समझौते की शर्तों के मुताबिक अधिकृत क्षेत्रों से न इस्रायली सेनाएं हटीं, न अरब देशों में आज भी शिविरों में पड़े फलस्तीनियों का मसला हल हो सका और न ही यरूशलम पर उसने अपनी दावेदारी वापस ली। स्वशासन के नाम पर गाजा पट्टी और पश्चिमी तट में जो कुछ हासिल भी हुआ था, वह भी इस्रायली फौजों की मौजूदगी में अर्थहीन बनकर रह गया था। इन क्षेत्रों से आवाजाही के रास्तों पर बने इस्रायली चेकपोस्टों पर फलस्तीनी नागरिकों को तरह-तरह के बहानों से अपमानित करना रोजमर्रे की रूटीन बनी हुई थी। यह जान बूझकर किया जा रहा था—फलस्तीनी जनता के स्वाभिमान को रौंदने के लिए, इस्रायली शर्तों पर उन्हें ''शान्ति'' का आदी बनाने के लिए। अपने हथियारों के जखीरे और अमेरिकी सरपरस्ती से पैदा हुई हेंकड़ी में इस्रायली शासक एक बार फिर यह भूल गये कि वे धीरे-धीरे वही परिस्थितियां पैदा करते जा रहे हैं, जिन्होंने पुराने इन्तिफादा की जमीन तैयार की थी।

इन्तिफादा के इस पहले ज्वार ने ही इस्रायली शासकों और अमेरिकी साम्राज्यवादियों को मजबूर किया था कि वे फलस्तीनी नेतृत्व के साथ समझौते की मेज पर बैठें। फलस्तीनी नेतृत्व भी तत्कालीन विपरीत विश्व परिस्थितियों (सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाादी शिविर का विघटन तीसरी दुनिया के शासकों का फलस्तीनी संघर्ष के प्रति बदला हुआ रुख) की नजाकत को भांप कर इस उम्मीद में समझौता वार्ताओं में शामिल हुआ था कि इन्तिफादा के आघातों से इस्रायली शासक वर्गों में पैदा हुई दरार और साम्राज्यवादी-जिनयवादी गंठजोड़ के खिलाफ अरब जनता के उभरे हुए गुस्से को जहां तक सम्भव हो स्वतंत्र फलस्तीनी राष्ट्र की वास्तविकताओं में बदलने के अवसर का लाभ उठाया जाये। उधर इन्तिफादा का ज्वार भी धीरे-धीरे उतार पर आ रहा था और पांच सालों से लगातार बर्बर दमन से जूझते हुए फलस्तीनी अवाम को भी सुस्ताने और नये सिरे से संघर्षों की तैयारी करने के लिए मोहलत की सख्त जरूरत थी।

जाहिर है सभी पक्षों की अपनी-अपनी जरूरतें थी, अपनी-अपनी मजबूरियां थीं। अमेरिकी साम्राज्यवादी भी मध्यस्थता के लिए इसलिए उतावले थे कि खाड़ी युद्ध में अपने पौरुष प्रदर्शन की नाकामी के बाद पश्चिम एशिया में ''शान्ति'' का समीकरण अपने पक्ष में अधिक से अधिक झुकाने के लिए कूटनीतिक चालों के अलावा दूसरा रास्ता बचा नहीं था।

इन्हीं तमाम जरूरतों और मजबूरियों के संघात से ओस्लो समझौते पर मुहर लगी थी। समझौते के कागजों पर शीतयुद्धोत्तर काल की परिस्थितियों की स्याही काफी उभरी हुई थी। फलस्तीनी अवाम को फौरी तौर पर इस्रायल अधिकृत गाजा पट्टी और पश्चिमी तट के इलाकों में सिर्फ लूला-लगड़ा स्वशासन मिला। इस्रायली फौजों को हटाने और स्वतंत्र सम्प्रभु राष्ट्र का सवाल, यरूशलम का सवाल और शरणार्थी भाइयों की नियति जैसे केन्द्रीय प्रश्न आगामी वार्ताओं के हवाले कर दिये गये थे। जबकि फलस्तीनी नेतृत्व को फलस्तीनी जमीन के 70 फीसदी हिस्से पर इस्रायली राष्ट्र के अस्तित्व की ऐतिहासिक मजबूरी को औपचारिक मंजूरी देनी पड़ी थी।

फलस्तीनी अवाम के लिए इस त्रासद नियति को स्वीकारने वाली अपने नेतृत्व की मजबूरियां गले उतारना कठिन था। लिहाजा, ओस्लो समझौते को उसने कभी दिल से नहीं स्वीकारा। समझौता वार्ताओं का हर नया चक्र और अधिकृत क्षेत्रों में इस्रायली फौजों की कारगुजारियां इस्रायली-अमेरिकी आक्रान्ताओं के प्रति उसकी नफरतों को हवा देता जा रहा था। अपने नेतृत्व से भी फलस्तीनी जनता को लगातार निराशा ही हाथ लग रही थी। इस्रायली जेलों में बन्द अपने भाइयों की रिहाई के सवाल पर भी उनका नेतृत्व खाली हाथ लौट आ रहा था। इसी बेचैनी, घुटन और निराशा की मनःस्थिति में नफरत और आक्रोश का लावा मुहाने के करीब पहुंचता जा रहा था। पिछले 28 सितम्बर को उद्दण्ड एरियल शेरोन की यरूशलम शहर स्थित 'टेम्पुल माउण्ट' की यात्रा से ताप चरम पर पहुंच गया और लावा फूट पड़ा। शेरोन की यात्रा हालांकि लिकुड पार्टी के अपने प्रतिद्वंद्वी पूर्व इस्रायली प्रधानमंत्री बेंजामिन नेतान्याहू के कट्टर जियनवादी जनाधार में सेंध लगाने के मकसद से आयोजित थी, जिसे पिछले चुनावों में अपदस्थ प्रधानमंत्री एहुद बराक का भी समर्थन हासिल था। दरअसल, एहुद बराक को भी अपनी ''शान्तिवादी'' भंगिमा पर कट्टरपंथी जिनयवादी खेमे की ओर से हो रहे हमलों को शान्त करने का एक मौका मिल गया था। लेकिन इस्रायली शासक वर्गों की आपसी

खींचतान और चालबाजी उन पर उलटवार साबित हो गयी। एक बार फिर, फलस्तीनी अवाम सड़कों पर उतर पड़ा। उसने फिर दुनिया को यह सन्देश दे दिया कि फलस्तीनी राष्ट्र का सवाल पश्चिम एशिया में शान्ति का केन्द्रीय सवाल है, जिसे हल किये बिना पश्चिम एशिया एक 'हॉट स्पॉट' बना रहेगा।

हालांकि, गाजापट्टी और पश्चिमी तट में नये जनउभार को फलस्तीनी नेतृत्व ने आधिकारिक रूप से इन्तिफादा की संज्ञा नहीं दी है, लेकिन वहां जो हो रहा है वह इन्तिफादा ही है। एक बार फिर सड़कों पर प्रदर्शनों का सिलसिला चल रहा है और बहादुर फलस्तीनी युवा गुलेलों से इस्रायली तोपों-मशीनगनों का चमत्कारिक ढंग से मुंहतोड़ जवाब दे रहे हैं। इन्तिफादा के इस नये विस्फोट और पुराने विस्फोट में बहुतेरी समानताओं के साथ अनेक भिन्नताएं ऐसी हैं जो यह बताती हैं कि फलस्तीनी अवाम पुराने इन्तिफादा के अनुभवों को आत्मसात कर अधिक सूझबूझ के साथ इस्रायली दमन-चक्र का मुकाबला कर रहा है। जहां पिछले इन्तिफादा के समय फलस्तीनी अवाम लगभग निश्शस्त्र था, वहीं इस बार उसके साथ 40,000 सशस्त्र सैनिक मौजूद हैं जिन्हें स्वशासन के दौरान फलस्तीनी मुक्ति संगठन ने तैयार किये हैं। इस सशस्त्र फलस्तीनी दस्ते के पास तोपें, मिसाइलें और युद्धक विमान तो नहीं हैं, लेकिन अन्य अत्याधुनिक हथियार मौजूद हैं। इस आधार पर इन्तिफादा की रणनीति में भी काफी बदलाव नजर आ रहा है। सड़कों पर खुले प्रदर्शनों-हड़तालों के साथ-साथ इस बार इस्रायली फौजों पर छापामार कार्रवाइयों का अधिक कुशल मेल दीख रहा है। इससे इस्रायली दमन मशीनरी भौंचक और किंकर्तव्यविमूढ़ नजर आ रही है।

नये इन्तिफादा के शुरुआती आघातों ने ही इस्रायली शासक वर्गों के भीतर हड़बोंग मचा दी है, जिसका नजारा इस्रायली शासक वर्गों की राजनीति में पिछले दिनों आये भूचाल में देखने को मिला। प्रधानमंत्री एहुद बराक का अचानक इस्तीफा देकर नये चुनावों की घोषणा करना और चुनावों के दौरान आम यहूदी मतदाताओं को लुभाने के लिए ''शान्ति'' के सबसे कारगर नुस्खों को पेश करने की आपसी होड़ शासक वर्गों के बीच मची अफरातफरी को ही दिखा रही थी।

नये इन्तिफादा का विस्फोट ऐसे समय में हुआ है जब इस्रायली शासक वर्ग भीतरी संकटों से भी घबराये हुए हैं। पिछले दस वर्षों में भूमण्डलीकरण की आर्थिक नीतियों के अमल ने इस्रायली समाज में वही नतीजे सामने लाये हैं जो तीसरी दुनिया के अधिकांश देशों में इन नीतियों के अमल से आये हैं। बेहिसाब बढ़ती महंगाई, बेकारी, छंटनी, तालाबन्दी का वही विनाशकारी मंजर वहां भी बन रहा है। समाज में वर्गों का धुव्रीकरण तेजी से हो रहा है। इसलिए इस्रायली जियनवाद का वह सामाजिक आधार जो वर्ग अन्तरविरोधों पर अंधराष्ट्रवाद की धूलगर्द जमा होने के कारण बना हुआ था, तेजी के साथ छीज रहा है। इस्रायली मजदूरों की पिछले दस वर्षों के दौरान कई लम्बी हड़तालें हो चुकी हैं, जिससे शासकों में लगातार बेचैनी मौजूद है। इस्रायली आम आबादी के भीतर यह आम भावना है कि इस्रायली फौजों को अधिकृत क्षेत्रों से हट जाना चाहिए और फलस्तीनी राष्ट्र के सवाल को जल्दी से जल्दी हल किया जाना चाहिए।

इन्तिफादा शुरू होने के पहले तक इस्रायली आम जनता की यही आम भावना प्रधान थी, लेकिन विस्फोट के बाद तात्कालिक रूप से अंधराष्ट्रवादी भावनाएं फिर से जागी हैं, जिसे वोटों में तब्दील करने में फिलहाल लिकुड पार्टी कामयाब रही है और शेरोन प्रधानमंत्री की कुर्सी पर जा बैठा है। लेकिन यह जनभावना का तात्कालिक उभार है जिसे शेरोन और समूचा इस्रायली शासक वर्ग भी समझ रहा है। यही कारण है कि चुनाव जीतने के बाद शेरोन सार्वजनिक वक्तव्यों में तो यरूशलम के सवाल पर इंच भर समझौता न करने और बन्दूकों के दम पर शान्ति कायम करने की भाषा बोल रहा है, लेकिन ''शान्तिवादी'' एहुद बराक और उसकी लेबर पार्टी के साथ साझा सरकार बनाने की कोशिशें भी कर रहा है। यह टिप्पणी लिखे जाने तक इस बात पर समझौता हो चुका है कि नयी सरकार के कैबिनेट में पन्द्रह में से सात सदस्य लेबर पार्टी के होंगे। एहुद बराक को रक्षा मंत्री और ओस्लो समझौते के एक प्रमुख खाकाकार शिमोन पेरेज को विदेश मंत्री बनाया जाना लगभग तय है।

इस्रायली राजनीति में लिकुड और लेबर पार्टी का यह गंठजोड़ इसी वास्तविकता की उपज है कि इस्रायली शासक वर्ग एकजुट होकर इन्तिफादा से पैदा हुए संकट का मुकाबला करने के लिए विवश है।

उधर इस्रायली सरपरस्त अमेरिकी शासकों की भी रातों की नींद हराम है। इन्तिफादा के समर्थन में लगभग सभी अरब देशों की राजधानियों में जो जबर्दस्त जनप्रदर्शन हुए हैं, उसने अरब जगत के उसके पिट्ठुओं को भी फलस्तीनी अवाम के समर्थन में खड़े होने के लिए मजबूर कर दिया है। इन्तिफादा शुरू होने के एक पखवारे के भीतर ही आयोजित अरब राष्ट्रों के सम्मेलन में गाजा पट्टी और पश्चिमी तट में इस्रायली फौजों के बर्बर दमन की कड़ी भर्त्सना की गयी। लीबिया को छोड़कर पश्चिम एशिया और अरब अफ्रीका के सभी राष्ट्रों के शासक इस सम्मेलन में शामिल हुए थे। सम्मेलन में इस्रायल को चेतावनी दी गयी और दमनात्मक कार्रवाइयों को तुरन्त रोकने का प्रस्ताव पारित किया गया। ऐसा न करने पर ताजा बहाल हुए राजनयिक सम्बन्धों को फिर खत्म करने और आर्थिक नाकेबन्दी की धमकी भी दी गयी। ट्यूनीशिया और मिस्र ने तो अपने राजदूतों को वापस भी बुला लिया है। अरब जगत की ये हलचलें पश्चिम एशिया में अमेरिकी मंसूबों पर जबर्दस्त धक्का साबित हो रही हैं।

दुनिया के बुर्जुआ साम्राज्यवादी शासकों की अन्तरराष्ट्रीय बिरादरी जिसे बुर्जुआ मीडिया वर्गेतर भाषा में अन्तरराष्ट्रीय समुदाय कहता है, में भी अमेरिकी-इस्रायल गंठजोड़ एक बार फिर बुरी तरह अलग-थलग पड़ गया है। संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद में यासिर अराफात के उस प्रस्ताव का विरोध करने वालों में, सिर्फ यही दोनों बचे थे, जिसमें इस्रायल अधिकृत क्षेत्रों में संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद के नेतृत्व में एक सशस्त्र शान्ति बल भेजने की मांग की गयी थी। तीसरी दुनिया के सभी शासक प्रस्ताव के पक्ष में थे। यूरोपीय समुदाय की पोजीशन भी कुल मिलाकर गंठजोड़ के विरोध में ही थी, सिर्फ रूस और चीन तटस्थ बने रहे थे।

इस्रायली-अमेरिकी शासकों के अपने आन्तरिक संकटों के अलावा मुख्यत: यह परिदृश्य इन्तिफादा के प्रहारों से ही उभर रहा है। अन्तरराष्ट्रीय समुदाय में इस अलगाव और पश्चिम एशिया में अपने मंसूबों को मिले जबर्दस्त झटके से पैदा हुई खीझ अमेरिकी शासकों ने एक बार फिर इराक के ऊपर उतारी है। इराकी राष्ट्रपति सद्दाम हुसैन द्वारा इन्तिफादा के मुखर समर्थन ने अमेरिकी शासकों की बदहवासी इस हद तक बढ़ा दी कि एक

(शेष पृष्ठ पर)

एनरॉन की 'हाई-पावर' बिजली का झटका

एनरॉन की हाई पावर बिजली के झटके से चारों खाने चित्त गिरी महाराष्ट्र सरकार ने अब उससे पिण्ड छुड़ाने के लिए प्रधानमंत्री जी को चिट्ठी लिख भेजी है। मुख्यमंत्री विलासराव देशमुख ने प्रधानमंत्री को लिखा है कि उनकी सरकर एनरॉन की बिजली का बिल चुकायेगी तो खायेगी-पियेगी क्या? सो एनरॉन का बिल अब प्रधानमंत्री जी के हवाले और आगे से समूचे डाभोल पॉवर प्रोजेक्ट की बिजली राष्ट्रीय तापीय ऊर्जा निगम (एन. टी.पी.सी.) के मत्थे मढ़ने की 'प्रैक्टिकल' सिफारिश भी उन्होंने कर दी है।

विलास राव देशमुख जनता और सरकार में शामिल घटक दलों की फजीहत से छुटकारा पाने के लिए अपने बॉस शरद पवार से भी तकरार लेने की हिमाकत कर बैठे हैं। पवार कह रहे हैं कि एनरॉन को समझाओ-बुझाओ, बिजली का दाम कम करने के लिए आरजू-मिन्नत करो, लेकिन देशमुख का कहना है कि एनरॉन से अपना पिण्ड छुड़ाओ, महाराष्ट्र की जनता का बोझ पूरे देश की जनता पर लाद दो। इसी कशमकश में मुख्यमंत्री महोदय ने पूर्व कैबिनेट सचिव डा. माधव गोडबोले की अध्यक्षता में एक जांच कमेटी भी बैठा दी है जो मुख्यत: यह जांच करेगी कि एनरॉन की बिजली का बोझ पूरे देश की जनता पर बांट देना कितना मुफीद रहेगा।

बहरहाल, अब एनरॉन का बिल केन्द्र सरकार के हवाले है। एनरॉन के कर्ता-धर्ता महाराष्ट्र और केन्द्र सरकार के दफ्तरों में अपने बिलों को अटकते-पटकते देखकर बिल्कुल भी घबराये नहीं हैं। वे निश्चिन्त हैं कि आखिर दिल्ली दरबार में बिल तो अटकेगा नहीं, क्योंकि वाजपेयी जी एक बार फिर उनके तारनहार बनेंगे। ठीक उसी तरह, जिस तरह वह तब बने थे, जब उन्होंने अपनी तेरह दिन वाली सरकार के आखिरी दिन अविश्वास प्रस्ताव पर संसद में हो रही गर्मागर्म बहस के बीचो-बीच उठकर कैबिनेट की बैठक में 'काउण्टर गारण्टी' वाली फाइल निपटा दी थी। वाजपेयी अपने ही दस्तखात से मजबूर हैं, सो एनरॉन का मौजूदा बिल चुकता हो जायेगा। अलबत्ता, अब देखना यह है कि वाजपेयी जी विलासराव देशमुख की सिफारिश पर क्या फैसला करते हैं।

जैसा पुराना अनुभव है, जनता के दुश्मनों से यारी निभाने के मामले में वाजपेयी बिल्कुल खरे हैं। और फिर यारी करने के मामले में एनरॉन जैसी हस्ती के आगे बढ़े हाथ से हाथ खींचना आसान भी नहीं है, वाजपेयी यह भी समझते हैं। एनरॉन कितनी बड़ी हस्ती है, भूमण्डलीय लूटतंत्र पर इसकी पकड़ कितनी चौकस है, इस बारे में अगर आप थोड़ा भी नाजानकार हों तो हम आपको बतायें कि एनरॉन की फाइल आज तक दुनिया के किसी भी देश में कभी नहीं अटकी है। एनरॉन के मालिकान अमेरिकी कारपोरेट जगत की उन हस्तियों में हैं जिन्हें अपने प्रोजेक्ट की फाइलें सरकाने की कला सबसे अच्छी तरह आती है। अपने देश के भीतर सत्ता के गलियारों में इनकी जबर्दस्त घुसपैठ है। वैसे तो इसके मालिकान पर रिपब्लिकनों की विशेष कृपा दृष्टि रहती है लेकिन डेमोक्रेटों को भी ये प्यारे हैं। इसकी वजह यह है कि उनकी हर जरूरत पर वे खुलकर 'दक्षिणा' देते हैं। फिर इन मेहरबानियों की कीमत वसूलते हैं। इसके नुमाइन्दे फाइल पास करने वाले चैनलों को पार करने के लिए साम-दाम-दण्ड भेद—हर हथकण्डे का आवश्यकतानुसार उपयोग करने की कला में प्रवीण हैं। जब मंत्रियों-नेताओं-अफसरों को दिल-दिमाग ''पत्रम-पुष्पम'' से नहीं बदल पाते तो फिर इनका काम इनकी सरकार करती है—इनके दान का प्रतिदान देकर। तीसरी दुनिया के देशों की सरकारों की बांह मरोड़कर अमेरिकी सरकार फाइल पास कराने की जुगत भिड़ाती है।

भारत में एनरॉन का प्रोजेक्ट पास होने की कहानी भी यही है। चूंकि भारतीय शासक वर्ग आज अपनी जरूरतों और मजबूरियों से किसी भी बहुराष्ट्रीय कम्पनी का सिद्धान्तत: स्वागत करने के लिए तैयार बैठा है तो फिर उसके तमाम राजनीतिक नुमाइन्दे भला क्यों कर अड़ंगा डालते। एनरॉन का प्रस्ताव आने के बाद सरकारें बदलती रहीं, लेकिन एनरॉन की फाइल आगे सरकती रही। जो भी अड़ंगा लगा वह या तो जनता की ओर से था या फिर चुनावी राजनीति की मजबूरियों से ''स्वदेशी'' अलम्बरदारों ने अड़ंगा डाला। वैसे अब यह अड़ंगेबाजी खुद उन्हें उल्टे तमाचे लगा रही है।

1991 में एनरॉन के भारत आगमन से लेकर आज तक की कहानी याद की जाये तो साफ हो जायेगा कि किस तरह सभी चुनावी दलों ने एनरॉन की फाइल को आगे सरकाते जाने में कैसी तत्परता दिखायी है। नयी आर्थिक नीतियों के सूत्रधार डा. मनमोहन सिंह ने एनरॉन को केन्द्रीय बिजली प्राधिकरण से मंजूरी दिलाने में अहम भूमिका निभायी थी। यह अहम मदद थी क्योंकि इसके बिना परियोजना आगे ही नहीं बढ़ सकती थी। वाजपेयी सरकार ने 'काउण्टर गारण्टी' दी। इसमें प्रमोद महाजन ने जबर्दस्त पैरवी की थी। भाजपा के वर्तमान राष्ट्रीय उपाध्यक्ष गोपीनाथ मुंडे ने चुनाव अभियान के दौरान एनरॉन को अरब सागर में फेंक देने की गर्जना की थी। लेकिन जब भाजपा-शिवसेना गठबन्धन में वह उपमुख्यमंत्री बने थे तो प्रदेश में एनरॉन का वास्तविक उत्पादन कार्य शुरू करवाने में बढ़-चढ़कर पैरोकारी की थी। इसके पहले एनरॉन की प्रतिनिधि रेबेका मार्क शिवसेना सुप्रीमों को भी एनरॉन के फायदे ''समझाकर'' राजी कर चुकी थीं।

परियोजना स्वीकृत करवाने के लिए एनरॉन ने जो झूठ बोला था, उसका भाण्डा आज फूट चुका है। एनरॉन की बिजली का बिल दो रुपये चालीस पैसे नहीं बल्कि 6 रुपये 84 पैसे और 7 रुपये 14 पैसे आ रहा है। अगले छह महीनों में जब परियोजना का दूसरा चरण शुरू होगा और एनरॉन द्वारा उत्पादित कुल 2000 मेगावाट बिजली खरीदनी होगी तो इसका सालाना बजट कुल छह हजार करोड़ रुपये आयेगा, जिसे चुकाने की कूवत न तो एन.टी.पी.सी. के पास है और न भारत सरकार के पास। एन.टी.पी.सी अभी सालाना उत्पादन और वितरण के जरिये सिर्फ 150 करोड़ रुपये

(शेष पृष्ठ 58 पर)

सुप्रीम कोर्ट के फैसले से दिल्ली के 25 लाख से भी अधिक मजदूरों पर कहर

पर्यावरण की चिन्ता नहीं इजारेदारी की सोची-समझी साजिश

दिल्ली का हवा-पानी दुरुस्त करने के नाम पर न्यायपालिका की मदद से एक बार फिर मजदूरों पर कहर बरपा किया जा रहा है।

इस बार जो हमला शुरू हुआ है, उसकी विकरालता के आगे पिछला ''पर्यावरण-सुधार'' तो कुछ भी नहीं था। वह तो महज एक बानगी था। सुप्रीम कोर्ट के विगत आठ सितम्बर के आदेश के मुताबिक दिल्ली के रिहायशी और नॉन-कन्फर्मिंग इलाके में चल रहे कुल 1 लाख 37 हजार लघु औद्योगिक इकाइयों के सिर पर बन्दी की तलवार लटक रही है, जिसकी कीमत कम से कम 15 लाख मजदूर बेकार होकर चुकायेंगे।

अपनी रोजी-रोटी बचाने के लिए सड़कों पर उतरे हजारों लोगों के आन्दोलन को ''गुण्डों का बवाल'' कहकर दरकिनार करते हुए सुप्रीम कोर्ट ने केन्द्र और दिल्ली सरकार को फरमान जारी किया और 18 दिसम्बर से शुरू हुई उद्योगों की बन्दी के तहत अबतक तीन हजार से ज्यादा औद्योगिक इकाइयों को बन्द किया जा चुका है। त्रिनगर, केशवपुरम, रोहिणी, नरेला, सरस्वती विहार, बवाना, समयपुर बादली, होलम्बीकलां, अलीपुर, बकौली, जिंदपुर, विश्वासनगर आदि इलाकों में भारी पुलिस बल, रैपिड एक्शन फोर्स और दर्जनों एसडीएम की फौज लेकर ताबड़तोड़ उद्योगों की बन्दी की गयी। यहां से निकाले गये हजारों मजदूर अपने घरों को लौट चुके हैं जहां बेकारी और भुखमरी उनका इंतजार कर रहे थे। अब बन्दी का दूसरा दौर भी शुरू हो चुका है।

जितनी इकाइयों को अब तक बन्द किया गया है उनसे कहीं ज्यादा इकाइयां उद्योग मालिकों ने खुद ही बन्द कर दी हैं क्योंकि उन्हें लगता है कि देर-सबेर सारी ही इकाइयों को बन्द करने की सरकार की मंशा है।

सुप्रीम कोर्ट ने बड़ी निर्ममता के साथ यह कहकर अपना पल्ला झाड़ लिया कि जो मजदूर पूर्वी उत्तरप्रदेश और बिहार से यहां आकर काम कर सकते हैं उन्हें 40-50 किलोमीटर और चले जाने में कोई फर्क नहीं पड़ेगा। लेकिन असलियत यह है कि जो उद्योग आज हटाये जा रहे हैं उनमें से आधे से ज्यादा नई जगहों पर नहीं लगेंगे और वहां से निकाले गये मजदूरों को सड़कों पर ही आना होगा। दिल्ली के पटपड़गंज या शाहदरा में जो उद्योग ढाई से तीन लाख रुपए की लागत में चल सकता है वो दिल्ली से बाहर कहीं भी 11-12 लाख रुपये से कम में नहीं चल पायेगा। बन्द होने वाले सभी उद्योगों को नई जगहों पर कारोबार शुरू करने के लिए अच्छा-खासा निवेश करना पड़ेगा। ज्यादातर उद्यमी इसमें पैसा लगाने के बजाय इकाई बन्द कर उससे निकले पैसे से दिल्ली में ही कोई और धंधा करने की योजना बना रहे हैं। ज्यादातर के पास इसके विकल्प भी हैं। वे प्रापर्टी डीलिंग, एसटीडी पीसीओ, दूकान या कोई सेवा उद्योग शुरू कर सकते हैं। लेकिन यहां भी खामियाजा भुगतेंगे लाखों लाख मजदूर जिनके पास न रोजगार होगा और न किसी तरह का मुआवजा। बहुतों को तो बकाया मजदूरी तक दिये बिना बाहर कर दिया गया है। लेकिन सुप्रीम कोर्ट ने इन लाखों मजदूरों और उनपर आश्रित करीब एक करोड़ लोगों के बारे में कुछ सोचने की भी जहमत गवारा नहीं की। उल्टे यह बेशर्म टिप्पणी और जड़ दी कि ''लोगों के रोजगार से ज्यादा जरूरी है उनका स्वास्थ्य...''।

सुप्रीम कोर्ट के इस फैसले से जुड़ा हुआ पहला सवाल तो यही है कि इस फैसले के पीछे क्या वाकई मामला पर्यावरण-प्रदूषण का है? पर इस सवाल पर विचार से पहले कुछ और तथ्यों पर गौर करना जरूरी है।

पारिस्थितिक-सन्तुलन बहाल करना और प्रदूषण-निवारण निहायत जरूरी है, पर यह बहुसंख्यक उत्पादक मेहनतकश आबादी को भूखों मारकर या उन्हें उजाड़कर ही हमेशा क्यों किया जाता है? प्रदूषण के लिए मुख्यत: जिम्मेदार धनिक आबादी के विरुद्ध कोई कदम कभी क्यों नहीं उठाया जाता? केन्द्र सरकार, राज्य सरकार, पर्यावरण मंत्रालयों, प्रदूषण नियंत्रण बोर्डों और अनेकों गैर-सरकारी संस्थानों की नाक के नीचे फैक्टरियां लगती और चलती हैं, और तमाम ताकतवर लोग अपनी सुख-सुविधा और मुनाफे के लिए जमीन, पानी, बिजली का बेहिसाब-बेरोकटोक इस्तेमाल करते हैं। दिल्ली में जल प्रदूषण का करीब 65 प्रतिशत सीवर से होता है और दिल्ली की 70% आबादी यानी गरीबों को सीवर की सुविधा ही उपलब्ध नहीं है। पर पर्यावरण सुधार-अभियान का खामियाजा वही भुगतेंगे। सरकारी आंकड़ों के मुताबिक उद्योगों से होने वाले कुल जल प्रदूषण का आधा सिर्फ 45 बड़ी और मझोली औद्योगिक इकाइयों से होता है, लेकिन बंदी की तलवार गिर रही है लघु उद्योगों पर। लाखों मोटरवाहन रोजाना सैकड़ों टन विषैला धुंआ छोड़ते हैं। खुद केन्द्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड के आंकड़े बताते हैं कि दिल्ली के वायु प्रदूषण का 64 प्रतिशत इन मोटर वाहनों के कारण होता है।

प्रदूषण हटाने के नाम पर यदि कारखाना बन्द करना है तो उनमें कार्यरत श्रमिक आबादी को वैकल्पिक रोजगार देना भी सरकार की ही जिम्मेदारी है। और सबसे बुनियादी बात तो यह है कि पर्यावरण के विनाश के लिए मूलत: उस पूंजीवादी उत्पादन तंत्र की अराजकता जिम्मेदार होती है, जो मुनाफे के लिए श्रम-शक्ति और प्रकृति को अंधाधुंध निचोड़ता और तबाह करता है। सच यह है कि पर्यावरण के प्रश्न पर मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी शहरी समाज आज उस प्रतिक्रियावादी नजरिये से बुरीतरह प्रभावित है, जिसका प्रचार पूंजीवादी मीडिया के भोंपू और टट्टू खूब करते रहते हैं।

यह एक अलग से चर्चा का विषय है, पर यहां दिल्ली के लघु उद्योगों की बन्दी के पीछे भी मूल प्रश्न पर्यावरण का है ही नहीं।

सच तो यह है कि पर्यावरण के प्रश्न को अन्तरराष्ट्रीय व्यापार में शर्त के रूप में शामिल करने के अमेरिकी दबाव के सियेटल में विरोध करने का दावा करने वाली केन्द्र की भाजपा सरकार और दिल्ली राज्य की

कांग्रेसी सरकार देशी-विदेशी एकाधिकारी घरानों के दबाव में पर्यावरण-सुधार की आड़ लेकर, न्यायपालिका के फैसले की मदद से छोटे उद्योगों को व्यवस्थित ढंग से तबाह करके एकाधिकारी पूंजी को निवेश के लिए नये क्षेत्र मुहैया कराने का कुचक्र रच रही हैं। यह बड़ी पूंजी द्वारा छोटी पूंजी को तबाह करने के साम्राज्यवादी नियम का ही एक और उदाहरण है। वैसे छोटे कारखानेदार कोई सहानुभूति के पात्र इन अर्थों में नहीं हैं कि मजदूरों को 40-50 रुपये की दिहाड़ी पर दस-दस घण्टे दासों की तरह खटाने में वे बड़े मालिकों से कहीं आगे हैं। अब ये छोटे परभक्षी बड़े परभक्षियों द्वारा तरह-तरह से निगले जा रहे हैं और बड़े परभक्षी भी अब अतिलाभ निचोड़ने के लिए आतुर होकर श्रमिकों को ठेका और दिहाड़ी पर रखकर छोटे उद्योगपतियों की ही तरह, या उनसे भी बदतर व्यवहार कर रहे हैं।

इससे भी अधिक महत्वपूर्ण यह पहलू है कि 25 लाख से भी कुछ अधिक मजदूरों के धीरे-धीरे बेरोजगार हो जाने से नये-नये उद्योग लगाने वाले देशी-विदेशी घरानों को श्रमशक्ति अत्यन्त सस्ती दरों पर उपलब्ध होगी और मजदूरों को वे मनमानी शर्तों पर निचोड़ सकेंगे। अन्यथा ऐसा नहीं है कि एक लाख से भी अधिक कारखाने बन्द करने के बजाय इस देश की सरकार और न्यायपालिका छोटे कारखाना मालिकों से 'एफ्लुएंट ट्रीटमेण्ट प्लाण्ट' ही नहीं लगवा सकती थी! दरअसल सरकार की मंशा ही यही है कि ये लघु उद्योग किसी भी तरह से बंद हों और इसीलिए उसे खुद भी जो 15 प्लाण्ट स्थापित करने थे, उस दिशा में उसने कुछ नहीं किया।

यहां हमें एक बार फिर तीन वर्षों पुरानी उस घटना की याद को ताजा कर लेना होगा जब सुप्रीम कोर्ट ने ''हानिकारक और जहरीली'' श्रेणी के 168 उद्योगों को बन्द करने या दिल्ली से बाहर ले जाने का आदेश दिया था, जिसपर 30 नवम्बर '1996 को अमल भी हो गया और 50,000 मजदूर बेकार हो गये। सुप्रीम कोर्ट के आदेश के बावजूद कुछ मजदूरों को छोड़कर अधिकांश को न काम मिला न ही मुआवजा। सवाल यह है कि सुप्रीम कोर्ट मजदूरों को काम या मुआवजे के अपने आदेश पर सरकार या पूंजीपतियों से अमल क्यों नहीं करा पाया?

इस बार भी आड़ पर्यावरण को सुधारने का ही लिया गया है। फर्क सिर्फ यह है कि इस बार बन्दी के शिकार होने वाले लघु उद्योगों के मालिक ऐसा नहीं चाहते हैं बल्कि देशी-विदेशी बड़ी पूंजी के मालिक ऐसा चाहते हैं। जहां तक मजदूरों का सवाल है तो उनके लिए पहले और अब की स्थिति में यह फर्क है कि 1996 में 50,000 मजदूर बेकार हुए थे और इस बार 25 लाख से भी अधिक मजदूरों पर गाज गिरने वाली है।

यह अनायास नहीं है कि दिल्ली में लाखों लघु उद्योगों की बन्दी का यह फैसला तब आया है जब भाजपा सरकार ने ''उदारीकरण के दूसरे दौर'' की गाड़ी को ढलान पर सरपट दौड़ा दिया है। भूमण्डलीकरण के वर्तमान दौर में किसी न किसी तरह से छोटी पूंजी की तबाही और इजारेदार पूंजी का विस्तार होना ही है। यह प्रक्रिया आज अनेकों रूपों में जारी है—कहीं सीधे-सीधे पूंजी की ताकत के बूते तो कहीं पर्यावरण-प्रेम या कोई और आड़ लेकर। जाहिरा तौर पर, इसकी कीमत अंततोगत्वा करोड़ों मेहनतकशों को ही बेकार होकर चुकानी है। इस प्रश्न पर अपनी लड़ाई को सही दिशा में सही ढंग से संगठित करने और आगे बढ़ाने के लिए यह जरूरी है कि मजदूर वर्ग इस बात को समझे कि दिल्ली में जो हो रहा है वह देश के अन्य हिस्सों में भी हो रहा है और यह उदारीकरण- कुचक्र का ही एक हिस्सा है। ऐसा आज ही क्यों हो रहा है, यह जानना भी जरूरी है।

1947 में सत्ता हासिल करने के बाद के लगभग 30-35 वर्षों तक भारतीय पूंजीपति वर्ग ने साम्राज्यवाद से गांठ जोड़े रहकर उसके आर्थिक हितों की हिफाजत करते हुए भी पूरी तरह उसके आगे घुटने टेककर नवउपनिवेशों जैसी स्थिति में पहुंच जाने से बचने के लिए तथा अपने औद्योगिक-वित्तीय आधार को मजूबत बनाने के लिए कुछ निश्चित नीतियों पर अमल किया (1) उन्होंने विदेशी पूंजी के अत्यधिक दबाव से बचने के लिए जनता की गाढ़ी कमाई से ''समाजवाद'' के नाम पर वसूली करके 'पब्लिक सेक्टर' के उद्योग खड़े किये (2)विदेशी दबाव से बचने के लिए समाजवादी देशों की मदद और साम्राज्यवादियों के बीच की होड़ का लाभ उठाया (3) चूंकि देशी एकाधिकारी पूंजीपतियों के पास हर सेक्टर में लगाने लायक पूंजी नहीं थी, इसलिए तमाम सेक्टरों में छोटे और मंझोले कारखानेदारों को प्रोत्साहित किया गया।

लगभग 1980 तक आते-आते हालात बदले। देशी बड़े पूंजीपति अपनी ताकत बढ़ा चुके थे और अब पब्लिक सेक्टर को हड़पने के लिए तैयार थे। उनके पास निवेश के लिए पर्याप्त पूंजी थी और वे उन क्षेत्रों पर भी एकाधिकार चाहने लगे थे जो या तो अबतक छोटे और मंझोले उद्योगों के लिए आरक्षित थे या बेहतर लाभ के अवसर मौजूद होने के चलते बड़े पूंजीपति अबतक जिन क्षेत्रों में दिलचस्पी नहीं ले रहे थे।

उधर दुनिया के हालात भी बदले। पश्चिमी देशों ने लम्बी मंदी से उबरने के लिए पूंजी की अधिकता के संकट को हल करने के लिए गरीब देशों के शासक पूंजीपतियों पर पूंजी-निवेश का रास्ता खोलने के लिए दबाव बढ़ा दिया और विश्व बाजार का स्वामी होने के चलते उन्होंने 'ब्लैकमेलिंग' व दबाव का भी भरपूर सहारा लिया। सोवियत संघ के पतन के बाद स्थितियां पश्चिमी देशों के पक्ष में और अधिक हो गईं। इधर तीसरी दुनिया के देशों के पूंजीपतियों की यह अपनी भी मजबूरी थी कि उन्नत तकनोलाजी और पूंजी के लिए वे साम्राज्यवादी पूंजी के साथ जूनियर पार्टनर के रूप में समझौते करें ओर उनके प्रवेश के रास्ते की सभी बाधाओं को हटा दें। यह उनकी जरूरत भी है और मजबूरी भी। और यही प्रक्रिया उदारीकरण- निजीकरण के दौर में आज जारी है।

जहां तक हमारे देश के छोटे और मंझोले कारखानेदारों की बात है, इनका चरित्र पुराने उपनिवेशों के उन राष्ट्रीय पूंजीपतियों जैसा कत्तई नहीं है जो अपने वर्गीय हितों की खातिर साम्राज्यवाद के विरुद्ध, ढुलमुलपन के बावजूद, खड़े हुए थे और राष्ट्रीय मुक्ति-संघर्षों के भागीदार बने थे। सच यह है कि भारत के छोटे-मंझोले कारखानेदार (उन छोटे उद्यमियों को छोड़कर जो कि पांच-दस मजदूर रखकर उनके साथ खुद भी काम करते हैं) साम्राज्यवादी पूंजी के साथ सहयोग और उसकी ताबेदारी के लिए प्राय: बड़े पूंजीपतियों से भी अधिक आतुर रहे हैं। प्राय: इनके उद्यम देशी-विदेशी बड़े पूंजीपतियों के कारखानों के लिए ही कुछ कल-पुर्जे या सामग्री उत्पादित करते हैं या फिर निर्यात के लिए कुछ माल तैयार करते रहे हैं।

मजदूरों के प्रति इनका रवैया सबसे नंगा दमनकारी होता है। पिछड़ी तकनोलाजी के चलते यह मजदूरों की श्रम शक्ति को सस्ती

से सस्ती दरों पर निचोड़कर ही बाजार में सस्ती कीमत पर अपना माल बेच सकते हैं और इसके लिए वे मजदूरों के साथ राक्षसी व्यवहार करते हैं। लगभग सारा काम ये दिहाड़ी और ठेका मजदूरों से कराते हैं जिनसे 30-40 रुपये मजदूरी में दस-बारह घण्टे नारकीय स्थितियों में काम लिया जाता है और कोई सुविधा नहीं दी जाती।

अब नये-नये क्षेत्रों में पूंजी लगाने के लिए बदहवासी से होड़ में लगे देशी बड़े पूंजीपतियों की और विदेशी पूंजीपतियों की निगाह भी उत्पादन के उन क्षेत्रों पर है जिनपर फिलहाल छोटे और मंझोले पूंजीपति काबिज हैं। इसीलिए अब सरकार लघु उद्योगों के लिए आरक्षित क्षेत्रों को धीरे-धीरे खुला कर रही है और एकाधिकारी पूंजी को मौका दे रही है कि वह पूंजी की ताकत और उन्नत तकनोलाजी के सहारे छोटी पूंजी को निगल जाये। यूं तो बड़ी मछली द्वारा छोटी मछलियों को निगल लिया जाना साम्राज्यवाद की सदी का आम सार्वभौमिक नियम रहा है। पर अब उसी नियम पर खुले अमल की एक बानगी हमें अपने देश में देखने को मिल रही है।

दिल्ली में पर्यावरण-सुधार के नाम पर 1 लाख 37 हजार लघु उद्योगों को बंद करने का जो कुचक्र सुप्रीम कोर्ट के फैसले की आड़ लेकर रचा जा रहा है, वह भी वास्तव में एकाधिकारीकरण की ही प्रक्रिया है जो हुकूमत की मदद से आगे बढ़ाई जा रही है।

सर्वहारा वर्ग की हमदर्दी जाहिरा तौर पर उन मालिकों के साथ नहीं हो सकती जो उन्हें जानवरों और दासों की तरह खटाते हैं तथा नारकीय स्थितियों में और रोज रोजगार की असुरक्षा की आशंका में जीने के लिए मजबूर करते हैं।

लेकिन इन छोटे उद्योगों को बंद करने से 25 लाख से भी अधिक जो मजदूर आबादी बेकार हो जायेगी उसके सामने खड़ा हो जाने वाला भुखमरी का संकट एक फौरी संकट होगा। इन छोटे उद्योगों की क्रमिक तबाही के बाद दिल्ली के आसपास और दूरवर्ती औद्योगिक क्षेत्रों में खुलने वाले बड़े पूंजीपतियों के जो उद्योग इनका स्थान लेंगे उनमें तकनोलाजी उन्नत होगी तथा बहुत थोड़े-से मजदूरों को ही काम पर रखकर अतिलाभ निचोड़ा जायेगा। दूसरी बात यह कि ऐसा नहीं कि उन थोड़े से मजदूरों को भी बेहतर वेतन तथा काम और जीने की बेहतर परिस्थितियां मुहैया की जायेंगी। बेरोजगार मजदूरों की भारी आरक्षित शक्ति सड़कों पर खड़ी होने के कारण, उन्नत मशीनों पर काम करने वाले मजदूरों को देशी-विदेशी बड़े पूंजीपति भी कम से कम तनख्वाह देकर दिहाड़ी और ठेके पर ही काम करायेंगे। यह स्थिति साहिबाबाद, गाजियाबाद, नोएडा आदि औद्योगिक क्षेत्रों में आज ही दिखाई दे रही है। देशी बड़े पूंजीपतियों और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के उन्नत कारखानों में भी मजदूरों से छोटे कारखानों जितनी ही तनख्वाह पर, लगभग उतनी ही बदतर स्थिति में, और ज्यादातर दिहाड़ी या ठेके पर ही काम लिया जा रहा है। मजदूरों को कभी भी धक्के मारकर बाहर कर देने, रहे-सहे श्रम कानूनों को भी ठेंगे पर रखने, यूनियन कार्रवाइयों को कुचलने व यूनियनें न बनने देने के लिए गुण्डों की मदद लेने जैसे मामलों में अब बड़े मालिक भी छोटे मालिकों जैसा ही खुला जालिमाना व्यवहार कर रहे हैं। यानी छोटे-मंझोले कारखानों की तबाही का जो सिलसिला आज दिल्ली में और देश के अन्य हिस्सों में अलग-अलग ढंग से जारी है, उससे बेकार होने वाली भारी मजदूर आबादी में से एक बहुत छोटे से हिस्से को ही देशी-विदेशी बड़े पूंजीपतियों के नये स्थापित होने वाले उद्योगों में काम मिल पायेगा और उनके भी काम करने और जीने की परिस्थितियों-शर्तों में रत्ती भर सुधार नहीं आयेगा। यह उसी तबाही का एक रूप है जो भूमण्डलीकरण के वर्तमान दौर में जारी एकाधिकारीकरण की प्रक्रिया मेहनतकश आबादी पर थोप रही है।

लघु और मंझोले उद्योगों की भांति-भांति की तिकड़मों से और कानूनों में बदलाव की आड़ लेकर बन्द करने के पीछे बड़ी पूंजी की जो उतावली है, उसे समझना मुश्किल नहीं है। पिछड़ी हुई तकनीक और पुरानी उत्पादन-प्रणाली के बावजूद छोटे उद्योगों का देश के कुल औद्योगिक उत्पादन में चालीस प्रतिशत और निर्यात में आधे से अधिक का योगदान है। इसीलिए इस पूरे हिस्से पर अधिकार जमाने के लिए देशी-विदेशी बड़े पूंजीपति आज बेतरह आतुर हैं। दूसरी ओर उद्योगों में लगी कुल श्रम-शक्ति का लगभग सत्तर फीसदी हिस्सा इन्हीं छोटे और मंझोले उद्योगों में काम करता है। उत्पादन के इन क्षेत्रों में बड़ी पूंजी के काबिज होने के बाद इस श्रम-शक्ति का बड़ा हिस्सा ''फाजिल'' बनाकर सड़कों पर धकेल दिया जायेगा।

यह प्रक्रिया आज पूंजीवादी विकास की स्वाभाविक गति है। आज का पूंजीवाद इससे भिन्न कुछ कर भी नहीं सकता। इस बात को समझकर ही मजदूर वर्ग रोजगार की और काम के अधिकार की अपनी लड़ाई को आगे बढ़ा सकता है और इसे पूंजीवाद के विरुद्ध सीमान्तों पर लड़ी जाने वाली भावी निर्णायक लड़ाई की एक कड़ी बना सकता है।

पूंजीवाद का बढ़ता संकट उसे अपने एकमात्र विकल्प पर निर्मम आचरण के लिए बाध्य कर रहा है और यह स्थिति मजदूरों के सामने भी बस एक ही विकल्प छोड़ रही है—या तो वह भूखे-अधभूखे, बेघर-बेदर गुलामों की स्थिति में जीने के लिए तैयार रहे, या फिर नये सिरे से उठ खड़ा हो, संगठित हो जाये और जुझारू संघर्षों की तैयारी में जुट जाये।

एनरान

(पृष्ठ 55 का शेष)

सालाना की कमाई कर रही है।

अब इन हालात में वाजपेयी क्या फैसला करेंगे यह जल्दी ही पता चल जायेगा। इतना तो तय है कि एनरॉन को देशनिकाला नहीं मिलने जा रहा। न वाजपेयी सरकार की ऐसी मंशा है, न मजबूरी। मजबूरी अगर है तो सिर्फ यह है कि एनरॉन के लिए बिजली बिल की बला को जनता को मत्थे पर मढ़ने के लिए बोझ का बंटवारा कैसे किया जाये कि कुर्सी को झटका न लेगी। थोड़ा एनरॉन को ''समझाया-बुझाया' जायेगा और थोड़ा ''राष्ट्रीय संकट'' में पेट पर पट्टी बांधने की भावुक अपील की जायेगी। और एनरॉन की बिजली का बिल जनता चुकता करती रहेगी। ''राष्ट्रीय संकटों'' के लिए जनता से कुर्बानियां मांगने के मामले में वाजपेयी सिद्धहस्त कलाकार है, इसमें किसी को कोई शक नहीं है लेकिन, जनता बहुत दिनों तक चुपचाप कुर्बानियां देती रहेगी, इस पर अवश्यक ही शक किया जाना चाहिए, क्योंकि यह इस विश्वास से पैदा होता है कि जनता की सहनशक्ति की आखिरी सीमा एक दिन जरूर खत्म होती है।

• शरत कुमार

सिलिकन वैली की जगमग में डूबा अंधेरा

अमेरिका में सान फ्रांसिस्को की खाड़ी के दक्षिणी किनारे पर सान्ता क्लारा काउण्टी में स्थित सिलिकन वैली आधुनिक कम्प्यूटर-इलेक्ट्रानिक उद्योग के मक्का के रूप में मशहूर है। आये दिन सिलिकन वैली की उपलब्धियों के बारे में तमाम बुर्जुआ पत्र-पत्रिकाओं में लेख, रिपोर्टें दिखायी दे जाती हैं जिनमें इसे साइबर युग का करिश्मा साबित किया जाता है। पिछले साल पूर्व अमेरिकी राष्ट्रपति बिल क्लिंटन जब भारत आये थे तो उन्होंने भी घूम-घूमकर सिलिकन वैली की जगमग से लुभाते हुए इस देश के कम्प्यूटर इंजीनियरों को वहां आने का न्यौता खुले हाथ बांटा था। सिलिकन वैली के बारे में गढ़ी गयी इस सुन्दर-सलोनी रूमानी छवि का ही नतीजा है कि वहां जाकर काम करना देश में तैयार हो रही नयी साइबर पीढ़ी की एक उद्दाम लालसा बनी हुई है। लेकिन सिलिकन वैली की इस जगमग के पीछे अंधेरे की जो एक पूरी दुनिया छुपा दी गयी है, उसकी दास्तान से बहुतेरे लोग अनजान हैं।

सिलिकन वैली के करिश्मे का कंगूरा लाखों की तादाद में वहां काम कर रहे आप्रवासी लैटिनो और एशियाई कामगारों की अमानवीय बर्बर लूट की बुनियाद पर खड़ा है। कंगूरा दिखाई पड़ता है, बुनियाद उसके नीचे दबी रहती है। सिलिकन वैली की समृद्धि की दास्तान इन कामगारों की तबाही की कहानी है जो अक्सर लिखी नहीं जाती।

शोषण की चक्की — दुस्सह जीवनस्थितियां

हाल में हुए कई अध्ययनों में सिलिकन वैली के कामगारों की जिन्दगी की जो तस्वीरें उभरी हैं वे आज के साइबर युग में आरम्भिक पूंजीवाद के उस बर्बर शोषण-उत्पीड़न के युग की याद दिलाने वाली हैं जिनका हृदयविदारक चित्रण अपटन सिंक्लेयर और चार्ल्स डिकेन्स जैसे उस युग के महान उपन्यासकारों की रचनाओं में मिलता है। बीस-बीस घण्टे काम, ठेका प्रथा और श्रम कानूनों और श्रमिक सुरक्षा के उपायों का नामोनिशान तक नहीं। सिर्फ उतनी मजदूरी जितने में मजदूर जिन्दा रह सकें और साइबर शहंशाहों की तिजोरियां भर सकें—यह सिलिकन वैली में कम्प्यूटर-इलेक्ट्रानिक मैन्युफैक्चरिंग में लगे मजदूरों की जिन्दगी की एक आम तस्वीर है।

सिलिकन वैली के कम्प्यूटर उद्योग में सबसे बुनियादी काम करने वाले मजदूरों में अधिकांश लैटिन अमेरिकी देशों से आये हुए आप्रवासी लैटिनो और **एशियाई** देशों के मजदूर हैं। एशियाई मजदूरों में भी फिलिप्पींस, वियतनाम, भारत, पाकिस्तान आदि देशों के मजदूर सबसे अधिक तादाद में हैं। इथियोपिया और सोमालिया जैसे अफ्रीकी देशों के मजदूरों की तादाद भी काफी है। इसके अलावा थोड़ी तादाद में स्थानीय चिकानो समुदाय के मजदूर हैं। श्वेत आबादी के बीच से मजदूर नाम मात्र के हैं। यह आबादी अधिकांशत: मैनेजमेण्ट के साथ जुड़ी हुई है।

कम्प्यूटर चिप्स कम्प्यूटर के जान-प्राण हैं। इसी तरह सेमी कण्डक्टर और ट्रांजिस्टर अधिकांश इलेक्ट्रानिक उत्पादों के सबसे महत्वपूर्ण पुर्जे हैं और सबसे अधिक मजदूर इन्हीं की उत्पादन प्रक्रिया से जुड़े हुए हैं। लेकिन **इस 'हाई टेक' उद्योग में समूची उत्पादन प्रक्रिया का अधिकांश हिस्सा खांटी हाथ के कामों से पूरा होता है। बारीक तारों की सोल्डरिंग करना, केबुलों को अलग-अलग करना, छपे हुए सर्किट बोर्डों पर सैकड़ों रंगीन ट्रांजिस्टरों को लगाना और तमाम 'हाईटेक' उत्पादों के तन्तुओं के जटिल जालासमूह की असेम्बलिंग करना जैसे बेहद थकाऊ काम हाथ से किये जाते हैं। इसी तरह कम्प्यूटर चिप्स बनाने की प्रक्रिया भी ऊबाऊ और साथ ही जोखिम भरी होती है, जिसे बनाते समय जहरीले रसायनों का उपयोग किया जाता है।**

सिलिकन वैली स्थित कम्प्यूटर जगत की नामीगिरामी कम्पनियां—**इण्टेल, आई. बी.एम., हैवेट पैकार्ड, ऐपल** आदि — मैन्युफैक्चरिंग का अधिकांश काम कराने के लिए दूसरे फर्मों को **ठेका** देती हैं इन बड़ी कम्पनियों से ठेका लेने वाली कम्पनियां एक तरह की 'गुमनाम कम्पनियां' हैं, क्योंकि मैन्युफैक्चर किये गये मालों पर ये अपना ठप्पा नहीं लगातीं। ठप्पा तो उन्हीं कम्पनियों का लगता है जिनसे ठेका मिला होता है। कम्प्यूटर और इलेक्ट्रानिक उद्योगों में मैन्युफैक्चरिंग का काम ठेके पर ही कराने का रिवाज आम बन चुका है। इन कामों को करने वाले स्थायी मजदूर अब बहुत थोड़ी संख्या में बचे हैं। अधिकांश काम **'पीस रेट'** पर ठेके के मजदूरों से कराये जाते हैं।

गलाकाटू प्रतियोगिता के चलते मैन्युफैक्चरिंग के काम अक्सर बेहद तेज रफ्तार से निर्धारित समय में पूरे करने होते हैं। इसलिए, ये गुमनाम कम्पनियां अपने अधीन काम करने वाले मजदूरों से चिप्स या मदर बोर्ड की असेम्बली करने जैसे तमाम कामों को **घर ले जाकर** करने के लिए दबाव डालती हैं। मजदूर इन्कार नहीं कर सकते, क्योंकि ज्यादातर अस्थायी या ठेका मजदूर होते हैं। इन्कार करने पर नौकरी से हाथ धोना पड़ सकता है।

घर में काम करवाने के पीछे कम्पनी मालिकों का मकसद होता है मैन्युफैक्चरिंग की लागत कम से कम करना, जिससे होड़ में वे टिक सकें। वे जानते हैं कि घर में पूरा परिवार काम करेगा और मजदूरी सिर्फ एक सदस्य को देनी होगी।

इन हाई टेक वर्कशॉपों की असेम्बली लाइन पर काम परम्परागत मैन्युफैक्चरिंग उद्योगों से भी अधिक निचोड़ने वाला और पूरे स्नायुविक तंत्र को भीषण रूप से तनावग्रस्त करने वाला है। असेम्बली लाइन के एक सिरे से दूसरे सिरे तक अलग-अलग जगहों पर अलग-अलग खास तरह के बारीक कामों को दुहराते रहना, वह भी बेहद तेज रफ्तार से, अविश्वसनीय तेज रफ्तार से...., हाई टेक मैन्युफैक्चरिंग की विशेषता है। असेम्बली लाइन पर ज्यादातर काम स्त्री मजदूर करती हैं, जिनकी संख्या असेम्बली लाइन के कुल मजदूरों का 70-80 प्रतिशत तक होती है।

इन गुमनाम कम्पनियों के वर्कशाप सिलिकन वैली के मुख्य औद्योगिक काम्प्लेक्स, जहां प्रमुख कम्पनियों के जगमगाते ''कैम्पस''

बने हैं, से बाहर आसपास के इलाकों में बने हैं। ज्यादातर मजदूर भी इन्हीं इलाकों में रहते हैं लेकिन कुछ मजदूर 100-150 किलोमीटर की दूरी तयकर रोज काम पर आते-जाते हैं। इनकी स्थिति यह है कि जब से इन्होंने इन वर्कशापों में काम करना शुरू किया है, तब से जरूरी नींद और आराम इनकी जिन्दगी से बाहर हो चुके हैं।

हड्डियों को गलाने-खपाने और जिन्दा इंसान को बेजान मशीनों में तब्दील कर देने वाले मैन्युफैक्चरिंग के इस काम के बदले में इन साइबर मजदूरों को मिलता क्या है? **पीस रेट** पर होने वाले काम से मिलने वाली मजदूरी का औसत निकाला जाये तो सिर्फ 6 डालर से लेकर 8 डालर प्रति घण्टा की दर से मजदूरी बनती है। जो थोड़ा अधिक अनुभवी मजदूर हैं उनकी मजदूरी अधिक से अधिक 10 डालर प्रतिघण्टा तक पहुंच पाती है। अमेरिकी जीवन स्तर के मद्देनजर यह उतना ही है जितने से मुश्किल से बस जिया जा सकता है। इस मजदूरी का आधे से अधिक तो सिर्फ मकान के किराये में ही खर्च हो जाता है। औसतन एक कमरे वाले अपार्टमेण्ट का किराया 1,200 डालर प्रतिमाह होता है। जाहिर है कि एक कमरे से अधिक बड़ा मकान किराये पर लेना मजदूर के लिए सम्भव नहीं। नतीजा, यहां भी मजदूर उसी तरह पूरे परिवार के साथ मुर्गी के दड़बे जैसे एक कमरे के अपार्टमेण्ट में रहते हैं, जैसे भारत के औद्योगिक नगरों में रहते हैं। मकान के किराये के बाद परिवार के खाने-पीने, कपड़े-लत्ते, दवा आदि बुनियादी जरूरतें बस खींचतान कर पूरी हो पाती हैं।

इस बर्बर शोषण के खिलाफ वे आवाज भी नहीं उठा सकते क्योंकि उन्हें यूनियन बनाने का भी हक नहीं है।

जानलेवा रसायनों के बीच

सिलिकन वैली से जुड़ी मैन्युफैक्चरिंग की इस प्रक्रिया में मजदूरों को बेहद खतरनाक रसायनों का इस्तेमाल करने के लिए कम्पनी मालिक मजबूर करते हैं। ज्यादातर मालिक तो मजदूरों को इस बारे में पूरी तरह अंधेरे में रखते हैं कि उन्हें किन रसायनों का इस्तेमाल करना पड़ रहा है। कम्प्यूटर चिप्स उद्योग में चिप्स को साफ करने के लिए **'ट्राईक्लोरो मेथेन'** नामक रसायन का व्यापक उपयोग होता है, जो कई तरह के कैंसर का कारण बनता है। इसके उपयोग से वर्कशापों के आसपास का पानी भी धीरे-धीरे जहरीला होता जाता है। एक अध्ययन में यह बताया गया कि इस दूषित पानी को पीने से बच्चों के जन्म से जुड़ी तमाम विकृतियां भी पैदा होती हैं।

कम्प्यूटर-इलेक्ट्रानिक मैन्युफैक्चरिंग के इन कारखानों में काम करने वाले बहुतेरे मजदूर आम तौर पर दमा और सांस-सम्बन्धी कई बीमारियों के शिकार होते हैं। सीने में दर्द होना, नाक से खून आना आम शिकायत है। जब मजदूरों ने कुछ विशेषज्ञों से से इसके बारे में बताया तो उन्होंने मैन्युफैक्चरिंग में इस्तेमाल होने वाले रसायनों की जांच कर बताया कि इनमें भारी मात्रा में **कैंसरजनक** पदार्थ पाये जाते हैं जो सांस सम्बन्धी बीमारियों का प्रमुख कारक है। लेकिन मैनेजमेण्ट के लोग इसे सिर्फ एक ''वैज्ञानिक सम्भावना'' बताकर टरका देते हैं और यह झांसा देकर मजदूरों को समझाते हैं कि ये बीमारियां हवा में बिखरे परागकणों की वजह से होती हैं।

इन जानलेवा रसायनों का खतरा और भी बढ़ जाता है, जब मजदूर काम घर ले जाकर करते हैं। सर्किट बोर्डों और चिप्स की सफाई वे रसोई के सिंक में करते हैं। लिहाजा, परिवार के बच्चों पर इनके खतरनाक असर की सबसे अधिक सम्भावना रहती है। स्वास्थ्य पर इन खतरों के बावजूद कम्पनियां चिकित्सा सुविधाओं के नाम पर व्यवहारत: मजदूरों को कुछ भी नहीं देतीं। गिनाने के लिए स्वास्थ्य बीमा की सुविधा उपलब्ध है लेकिन अक्सर यह कागजी ही साबित होती है क्योंकि प्रीमियम की राशि इतनी अधिक होती है कि उसे हर महीने चुकाना मजदूरों के बूते के बाहर होता है।

भूमण्डलीय असेम्बली लाइन

कम्प्यूटर जगत की नामी गिरामी कम्पनियों ने तीसरी दुनिया के सस्ते श्रम का दोहन करने के लिए असेम्बली लाइन को पूरे भूमण्डल पर बिखेर दिया है। कम्प्यूटर चिप्स बनाने वाली दुनिया की सबसे बड़ी कम्पनी **इण्टेल** के संयंत्र प्यूरिटो रिको, कोस्टा रिका, मलयेशिया, फिलीप्पीन्स, चीन और मेक्सिको में बिखरे हुए हैं, जहां बेहद सस्ता श्रम उपलब्ध है। अकेले मेक्सिको में कुल 470 **माकीलाडोरा** फैक्टरियां (अमेरिका-मेक्सिको सीमा पर स्थित फैक्टरियां जिनके मालिक ज्यादातर अमेरिकी-यूरोपीय पूंजीपति होते हैं) हैं जिनमें इलेक्ट्रानिक सामानों और इनके सहायक कल-पुर्जों का निर्माण होता है। यहां लगभग ढाई लाख मजदूर काम करते हैं, जिनमें बहुतायत स्त्रियों की है जिन्हें औसतन सिर्फ 6 से 10 डालर प्रतिदिन तक ही मजदूरी मिलती है। पिछले कुछ वर्षों से मैन्युफैक्चरिंग के अधिकांश कामों को सिलिकन वैली से बाहर कराने की प्रवृत्ति आम हो चली है। सिलिकन वैली में अधिकांशत: अब असेम्बली लाइन के आखिरी चरणों का काम ही निपटाना कम्पनियों की रणनीति बन चुकी है।

सिलिकन वैली स्थित कम्प्यूटर-इलेक्ट्रानिक कम्पनियों की अकूत सम्पदा और चमत्कारिक उपलब्धियों का राज यही है। कामगारों के बर्बर-अमानवीय शोषण-उत्पीड़न और तबाही-बर्बादी की इसी बुनियाद पर समृद्धि के ये टापू खड़े हो रहे हैं जिनकी ओर साइबर मिडिल क्लास हसरत भरी निगाहों से ताक रहा है। भारत और अन्य एशियाई देशों से सिलिकन वैली गये साफ्टवेयर इंजीनियरों की स्थिति मैन्युफैक्चरिंग मजदूरों से कुछ अंशों में ही बेहतर है। ये साफ्टवेयर इंजीनियर भी सिर्फ 'कुलीन साइबर मजदूर' ही हैं। फर्क बस इतना ही है कि वे असेम्बली लाइन की जगह लकदक 'हाईटेक' वातानुकूलित प्रयोगशालाओं और सुसज्जित कक्षाों में बैठकर बौद्धिक मजदूरी कर रहे हैं और बदले में थोड़ी अधिक मजदूरी और अपेक्षाकृत बेहतर जीवन स्तर हासिल कर ले रहे हैं। इनके चमकदार कैरियर के बारे में जो धारणाएं मीडिया ने बनायी हैं वे झूठी हैं। एक अमेरिकी साफ्टवेयर इंजीनियर के मुकाबले इनका कई गुना सस्ता श्रम ही वह लालच है, जिसके चलते क्लिंटन ने भारत में घूम-घूमकर न्यौता बांटा था। और भारत सरकार को अपने इस 'ज्ञान उद्योग' पर इसलिए अभिमान है क्योंकि जब ये साइबर कुलीन मजदूर अधिक से अधिक संख्या में सिलिकन वैली जायेंगे तभी तो देश में अधिक से अधिक डॉलर आयेगा, विदेशी मुद्रा भंडार बढ़ेगा।

भारतीय शासक वर्ग द्वारा 'ज्ञान-उद्योग' के जरिये दुनिया की महाशक्ति बनने की डींग हांकने और ''स्वदेशी राष्ट्राभिमानी'' ललकारों के पीछे का राज भी शोषण के इसी भूमण्डलीय तंत्र में निहित यही है।

● मीनाक्षी

राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त

(समापन किश्त)

अध्याय 22

पारस्परिक सहायता और विनिमय

समाजवादी राज्य के वैदेशिक आर्थिक सम्बन्ध

हम साम्राज्यवाद और सर्वहारा क्रान्तियों के युग में रह रहे हैं। सर्वहारा द्वारा एक या अनेक देशों में राजनीतिक सत्ता पर कब्जा करने और समाजवाद की स्थापना करने के बाद समाजवादी देशों के बीच, समाजवादी देशों और राष्ट्रीय मुक्ति हासिल किये अन्य राष्ट्रों के बीच तथा समाजवादी देशों और साम्राज्यवादी एवं पूंजीवादी देशों के बीच कुछ आर्थिक सम्बन्ध अपरिहार्यत: कायम होते हैं। समाजवादी राज्य के वैदेशिक आर्थिक सम्बन्ध अपने देश में समाजवादी आर्थिक निर्माण और अन्तरराष्ट्रीय स्थितियों से नजदीकी से जुड़े होते हैं।

वैदेशिक आर्थिक सम्बन्ध समाजवादी राज्य के विदेश सम्बन्धों का एक अंग होते हैं

वैदेशिक आर्थिक सम्बन्धों को सर्वहारा क्रान्तिकारी राजनयिक लाइन के अनुसार चलना चाहिए

अक्टूबर क्रान्ति के बाद लेनिन ने बार-बार इंगित किया कि सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत समाजवादी राज्य विश्व सर्वहारा क्रान्ति को आगे बढ़ाने का आधार है। सबसे पहले समाजवाद की विजय हासिल करने वाले राज्य को ''दुनिया के मजदूरो, एक हो!'' तथा ''दुनिया के मजदूरो और उत्पीड़ित राष्ट्रो, एक हो!'' का झण्डा बुलन्द करना चाहिए। इसे पूरी दुनिया के सर्वहाराओं, उत्पीड़ित जनताओं और उत्पीड़ित राष्ट्रों के साथ अपनी एकजुटता मजबूत करनी चाहिए और उन सभी देशों के साथ एकजुटता मजबूत करनी चाहिए जो साम्राज्यवादी आक्रमण, साजिश, हस्तक्षेप, नियंत्रण और धौंसपट्टी का शिकार हैं। उसे साम्राज्यवाद तथा नये व पुराने उपनिवेशवाद के खिलाफ एक व्यापक संयुक्त मोर्चा बनाने की कोशिश करनी चाहिए।

समाजवादी राज्य के विदेश सम्बन्धों का बुनियादी सिद्धान्त है सर्वहारा अन्तरराष्ट्रीयतावाद का दृढ़ता से पालन। चीन की क्रान्तिकारी राजनयिक लाइन है: सर्वहारा अन्तरराष्ट्रीयतावाद के सिद्धान्त के तहत समाजवादी देशों के साथ पारस्परिक सहयोग का सम्बन्ध विकसित करना; सभी उत्पीड़ित जनताओं और राष्ट्रों के क्रान्तिकारी संघर्षों की मदद करना; क्षेत्रीय अखण्डता एवं सम्प्रभुता के परस्पर सम्मान, अनाक्रमण, एक-दूसरे के आन्तरिक मामलों में अहस्तक्षेप, समानता एवं परस्पर लाभ और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के आधार पर अन्य सामाजिक व्यवस्थाओं के अधीन देशों के साथ शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के लिए प्रयास करना; आक्रमण और युद्ध की साम्राज्यवादी नीति का विरोध करना; और महाशक्तियों के प्रभुत्ववाद का विरोध करना। यह एक मार्क्सवादी लाइन है। यह हमारी जनता के बुनियादी हितों के साथ मेल खाती है।

समाजवादी राज्य के वैदेशिक आर्थिक सम्बन्ध इसके विदेश सम्बन्धों का अंग होते हैं। ये सम्बन्ध क्रान्तिकारी राजनयिक लाइन के निर्देशन में चलाये जाने चाहिए। इसलिए वैदेशिक आर्थिक सम्बन्धों के मामले में समाजवादी राज्य सबसे पहले समाजवादी देशों के बीच और समाजवादी देशों तथा उत्पीड़ित राष्ट्रों के बीच मित्रता और सहकार के सम्बन्धों को विकसित करने क लिए सक्रिय प्रयास करता है। वह शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के पांच सिद्धान्तों के आधार पर अन्तरराष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्ध चलाता है। आर्थिक सहायता चाहे जिस भी रूप में हो, प्राप्तकर्ता देश की सम्प्रभुता का सम्मान किया जाना चाहिए। इसके साथ किसी तरह की गैरवाजिब शर्तें नहीं जुड़ी होनी चाहिए, बदले में किसी विशेषाधिकार की मांग नहीं की जानी चाहिए। अन्तरराष्ट्रीय व्यापार समानता और पारस्परिक लाभ के आधार पर विकसित होना चाहिए। पारस्परिक आधार पर, पारस्परिक आवश्यकताओं और सम्भावनाओं के अनुसार तथा एक-दूसरे की सम्प्रभुता और आकांक्षाओं का सम्मान करते हुए आर्थिक विकास को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

वैदेशिक आर्थिक सम्बन्धों को चलाने में हमें हर मामले में स्थिति विशेष के अनुसार अलग-अलग निर्णय लेना चाहिए

वैदेशिक आर्थिक सम्बन्ध चलाने में समाजवादी राज्य को हर देश की समाज व्यवस्था के अनुसार हर मामले पर अलग-अलग विचार कर निर्णय लेना चाहिए।

समाजवादी देशों के बीच के सम्बन्ध मानव इतिहास में नवीनतम अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्ध हैं। समाजवादी देश मार्क्सवाद और अन्तरराष्ट्रीयतावावद को अपने साझा विचारधारात्मक आधार के तौर पर इस्तेमाल करते हैं। वे सर्वहारा अधिनायकत्व को अपना साझा आर्थिक आधार के रूप में अपनाते हैं और समाजवाद के निर्माण तथा कम्युनिज्म के महान आदर्श को साकार करना अपने संघर्ष का साझा लक्ष्य मानते हैं। अध्यक्ष माओ ने कहा है : ''इतिहास के आरम्भ से अब तक किन्हीं देशों के बीच के सम्बन्ध ऐसे नहीं रहे हैं जैसे समाजवादी राज्यों के बीच में, जो अपने उतार-चढ़ाव को आपस में बांटते हैं, एक-दूसरे का विश्वास और सम्मान करते हैं, और एक-दूसरे का समर्थन और सहायता करते हैं। ऐसा इसलिए है क्योंकि समाजवादी राज्य, राज्य का एक नया रूप है। यह एक

ऐसा राज्य है जिसने शोषक वर्ग को उखाड़ फेंका है और जिसमें मेहनतकश जनता सत्ता में है। इन राज्यों के अन्तरसम्बन्धों में अन्तरराष्ट्रीयतावाद और राष्ट्रीयतावाद को एक करने का सिद्धान्त अमल में आता है। साझा हितों और साझा आदर्शों ने हमें घनिष्ठ रूप से आपस में जोड़ दिया है।''[1]

सर्वहारा अन्तरराष्ट्रीयतावाद के सिद्धान्त पर दृढ़ता से अमल और समाजवादी राज्यों के बीच पारस्परिक आर्थिक सहायता और समर्थन का समाजवाद के निर्माण की रफ्तार तेज करने और साम्राज्यवाद तथा सामाजिक साम्राज्यवाद के विरोध की शक्ति को बढ़ाने में बहुत अधिक महत्व होता है।

हालांकि समाजवादी राज्यों और राष्ट्रवादी राज्यों के बीच समाज व्यवस्थाओं का अन्तर है लेकिन ये दोनों ही साम्राज्यवादी आक्रमण के शिकार रहे हैं। दोनों में राष्ट्रीय स्वतंत्रता की रक्षा करने और आक्रमण तथा युद्ध की साम्राज्यवादी नीति और महाशक्तियों के प्रभुत्ववाद का विरोध करने की साझा इच्छा है। इसलिए समाजवादी राज्य और राष्ट्रवादी राज्य साम्राज्यवाद तथा नये व पुराने उपनिवेशवाद के विरोध तथा शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के पांच सिद्धान्तों के आधार पर मित्रता और सहकार के सम्बन्ध स्थापित और विकसित कर सकते हैं। समाजवादी राज्यों द्वारा एशिया, अफ्रीका और लातिनी अमेरिका के राष्ट्रवादी राज्यों को अपनी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं के विकास के लिए दी गई सहायता दो महाशक्तियों और उनके पिछलग्गुओं का विरोध करने, राष्ट्रीय स्वतंत्रता और सम्प्रभुता की रक्षा करने और मानव जाति के प्रगतिशील उद्यम को बढ़ावा देने में उपयोगी रही है।

''जहां तक साम्राज्यवादी देशों का सवाल है हमें उनकी जनता के साथ एकता कायम करनी चाहिए और उन देशों के साथ शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व रखने, व्यापार करने और किसी सम्भावित युद्ध को टालने की कोशिश करनी चाहिए, लेकिन किसी भी स्थिति में हमें उनके बारे में मुगालते में नहीं रहना चाहिए।''[2] स्वतंत्रता और आत्मनिर्भरता पर दृढ़ता से कायम रहते हुए और उनके साथ तीखा संघर्ष चलाते हुए ही इन देशों को इस बात के लिए बाध्य किया जा सकता है कि वे किसी हद तक शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व और व्यापार के विकास तथा जनता के बीच सम्बन्धों और आदान-प्रदान के लिए तैयार हों।

सोवियत संशोधनवादी वैदेशिक आर्थिक सम्बन्धों का सार है दूसरे देशों पर आक्रमण और विस्तार

लेनिन ने कहा है : ''साम्राज्यवादी नीति की अन्तर्वस्तु है विश्व प्रभुत्व।''[3] विश्व प्रभुत्व के लिए लड़ने की अपनी आपराधिक नीयत को छुपाने के लिए सोवियत संशोधनवादी सामाजिक साम्राज्यवाद अपने वैदेशिक आर्थिक सम्बन्धों को ''समाजवाद'' के लबादे से ढंकता है। इसलिए यह साम्राज्यवाद से भी ज्यादा धूर्ततापूर्ण और खतरनाक है। लबादा हटा दिया जाए तो जनता के सामने इसका शैतानी रूप आ जाएगा।

सोवियत संशोधनवाद की मुख्य वैदेशिक आर्थिक गतिविधि है हथियारों की बिक्री। यह सर्वाधिक मुनाफे वाला कारोबार है। 1955 में विश्व के हथियारों के बाजार में प्रवेश से लेकर 1972 तक इसने कुल मिलाकर 28.5 खरब डालर के हथियार बेचे हैं। 1970 के दशक की शुरुआत में सोवियत संशोधनवाद द्वारा हथियारों की बिक्री विश्व की कुल हथियार बिक्री का 37.5 प्रतिशत थी। इसने अमेरिका को भी पीछे छोड़ दिया और विश्व के सबसे बड़े हथियारों के सौदागरों में से एक बन गया। खासतौर पर हाल के वर्षों में सोवियत संशोधनवाद ने भारी मुनाफा बटोरने के लिए हथियारों के कारोबार के विस्तार को तेज कर दिया है। गड़बड़ी वाले क्षेत्रों में घुसकर फायदा उठाने और युद्धों में मुनाफा कमाने में उसे महारत हासिल है। मध्य पूर्व के युद्ध के दौरान सोवियत संशोधनवाद द्वारा अरब देशों को बेचे गये हथियारों के खूब ऊंचे दाम वसूले गये। उन्हें नकद विदेशी मुद्राओं में भुगतान करना पड़ा। इजरायली आक्रमण से बचाव के लिए हथियार खरीदने के वास्ते कुछ देशों को पश्चिमी मुद्रा बाजार से डालर कर्ज में लेने पड़े। एशियाई और अफ्रीकी लेखकों द्वारा प्रकाशित पत्रिका 'कॉल' के शब्दों में : ''अपने लम्बे और पीड़ादायी अनुभव से अरब जनता ने अन्ततः इस सच्चाई को पहचान लिया है कि सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद 'मित्र' के भेष में एक शत्रु है। इस तरह का शत्रु खुले शत्रु से भी ज्यादा खतरनाक होता है।''

सोवियत संशोधनवादियों का विदेश व्यापार और तथाकथित आर्थिक सहायता भी नये जारों द्वारा इस्तेमाल किये जा रहे आक्रमण और विस्तार के नये औजार हैं। वे सस्ता खरीदने और महंगा बेचने, घटिया माल भेजने, बिक न सकने वाले माल जबरन बेचने जैसे शर्मनाक कार्रवाइयां, हर तरह के छल नियोजन और सट्टेबाजी ही नहीं करते बल्कि दूसरे देशों पर दबाव डालकर उन्हें इस बात के लिए भी बाध्य करते हैं कि वे सिर्फ उन्हीं के साथ व्यापार करें। जब कुछ ''बिरादराना देश'' सोवियत संशोधनवाद के नियंत्रण से बाहर निकलकर पश्चिम के देशों के साथ व्यापार करना चाहते हैं तो सोवियत संशोधनवादी धमकियों का सहारा लेते हैं। सितम्बर 1972 में चेकोस्लोवाकिया के सोवियत दूतावास के एक अधिकारी को आदेश दिया गया कि वह वहां के 'फ्रीडम डेली' में एक बयान प्रकाशित कराये। उसने बयान में ''कुछ (चेक) कारखानों और उद्यमों'' की इस बात के लिए आलोचना की कि ''वे प्रायः पश्चिम से कुछ उत्पाद खरीदते हैं और केवल पूंजीवादी देशों से मशीनों तथा उपकरणों के आयात की सम्भावनाओं का पता लगाते रहते हैं।'' उसने धमकी देने वाले अन्दाज में कहा, ''हमें आशा है कि समाजवादी राज्यों में हमारे भागीदार इस बात को समझेंगे कि अगर उनके घरेलू बाजार सोवियत संघ के मशीनों और उपकरणों के लिए खुले नहीं रहेंगे तो सोवियत संघ हमारे आर्थिक सम्बन्धों को और विकसित नहीं कर पायेगा क्योंकि ईंधन और कच्चे मालों की आपूर्ति की हमारी क्षमता सीमित है।'' यह एक दुष्ट का असल चेहरा है। लेकिन 1964-71 तक खुद सोवियत संशोधनवादियों द्वारा 11 पश्चिमी देशों से किया जाने वाला आयात 61 प्रतिशत से भी ज्यादा बढ़ गया जिसमें से अधिकांश मशीनें और उपकरण थे। यह महज इसी बात का उदाहरण है कि 'सिर्फ राजा आग जला सकता है जबकि जनता को दिये जलाने की भी इजाजत नहीं है'। सोवियत संशोधनवादी ऐसी ही ''भागीदारी'' स्थापित करना चाहते हैं।

सोवियत संशोधनवादी अपने वैदेशिक आर्थिक सम्बन्धों में सारी अच्छी बातें कहते हैं और सारे बुरे काम करते हैं। उनकी बातें चाहे जितनी चिकनी-चुपड़ी हों और उनके आवरण चाहे जितने आकर्षक दिखें, उनके विदेशी आक्रमण और विस्तार का उन देशों की जनता और भी ज्यादा प्रतिरोध करेगी जो उनके नियंत्रण, दासता और शोषण के शिकार हैं। सोवियत संशोधनवादी सामाजिक साम्राज्यवाद द्वारा

विदेशी आक्रमण और लूट खुद अपने ही पैरों पर कुल्हाड़ी मारने जैसा है। इससे उनका अन्त और करीब आएगा।

समाजवादी राज्य द्वारा दी जाने वाली वैदेशिक आर्थिक सहायता एक अन्तरराष्ट्रीयतावादी कर्तव्य है

विश्व की जनता का क्रान्तिकारी संघर्ष एक-दूसरे को सहायता और समर्थन देता है

सर्वहारा क्रान्तिकारी उद्यम हमेशा से एक अन्तरराष्ट्रीय उद्यम रहा है। विभिन्न देशों में सर्वहारा के क्रान्तिकारी संघर्ष विश्व सर्वहारा क्रान्ति के अंग हैं।

समाजवादी क्रान्ति और समाजवादी निर्माण में किसी देश की विजय को पूरी दुनिया के सर्वहारा और क्रान्तिकारी जनताओं द्वारा दिये गये समर्थन से अलग करके नहीं देखा जा सकता। हमारे क्रान्तिकारी संघर्ष में और हमारे समाजवादी क्रान्ति और समाजवादी निर्माण में विश्व की क्रान्तिकारी जनता और सर्वहारा ने हमें लगातार समर्थन और सहायता दी है। अध्यक्ष माओ ने इंगित किया है, ''अन्तरराष्ट्रीय क्रान्तिकारी शक्तियों द्वारा विभिन्न रूपों में दी गई सहायता के बिना विजय हासिल करना सम्भव नहीं होता और न ही विजय के बाद सुदृढ़ीकरण सम्भव होता।''[4] सर्वहारा को सिर्फ खुद को ही नहीं मुक्त करना है बल्कि पूरी मानवता को मुक्त करना है। यदि पूरी मानवता मुक्त नहीं होगी तो सर्वहारा खुद भी अन्तिम रूप से स्वतंत्र नहीं हो सकता। इसलिए जिन देशों में सर्वहारा ने राजसत्ता पर कब्जा कर लिया है उन्हें न केवल पूरी दुनिया के सर्वहारा, उत्पीड़ित जनताओं और उत्पीड़ित राष्ट्रों के न्यायपूर्ण संघर्षों का राजनीतिक और नैतिक समर्थन देना चाहिए, बल्कि उन्हें भौतिक सहायता भी देनी चाहिए। यह एक अन्तरराष्ट्रीय कर्तव्य है जिसे हर समाजवादी देश को पूरा करना चाहिए।

मार्क्सवाद और संशोधनवाद के बीच संघर्षों में हमेशा ही यह एक केन्द्रबिन्दु रहा है कि सर्वहारा अन्तरराष्ट्रीयतावादी सिद्धान्त का दृढ़तापूर्वक पालन हुआ है या नहीं और सर्वहारा अन्तरराष्ट्रीयतावादी कर्तव्य को पूरा किया गया है या नहीं। सभी संशोधनवादी सर्वहारा अन्तरराष्ट्रीयतावाद का विरोध करते हैं। वे बुर्जुआ अन्धराष्ट्रवाद और राष्ट्रीय स्वहित की पूजा करते हैं। दूसरे इन्टरनेशनल के गद्दारों के साथ चले दृढ़ संघर्ष में लेनिन ने सर्वहारा अन्तरराष्ट्रीयतावादी सिद्धान्त की हिफाजत की और उसे विकसित किया। उन्होंने कहा, ''सर्वहारा अन्तरराष्ट्रीयतावाद का तकाजा है कि : पहला, एक देश के सर्वहारा संघर्ष के हित विश्व के सर्वहारा संघर्ष के हितों के अधीन हों और दूसरा, जिस राष्ट्र ने बुर्जुआ वर्ग को हरा दिया है उसे अन्तरराष्ट्रीय पूंजीपतियों को उखाड़ फेंकने के लिए ताकत और दृढ़ता के साथ महानतम राष्ट्रीय त्याग करना चाहिए।''[5] आधुनिक संशोधनवाद और ल्यू शाओ-ची तथा लिन पियाओ गुट की ''वादों (isms)के साथ समझौता करने और अन्तरराष्ट्रीय क्रान्तिकारी संघर्षों को सहायता घटाने''[6] की संशोधनवादी लाइन के विरुद्ध अपने संघर्ष में माओ ने बार-बार पूरी पार्टी और देश की जनता को सर्वहारा अन्तरराष्ट्रीयतावादी भावना की शिक्षा दी। माओ ने कहा: ''क्रान्ति में विजय पायी हुई जनता को उस जनता की सहायता करनी चाहिए जो मुक्ति के लिए संघर्ष कर रही है। यह हमारा अन्तरराष्ट्रीयतावादी कर्तव्य है।''[7] हमें अध्यक्ष माओ की शिक्षाओं का अनुसरण करना चाहिए, दुनिया की जनताओं के न्यायपूर्ण संघर्षों का दृढ़तापूर्वक समर्थन करना चाहिए और अपने अन्तरराष्ट्रीयतावादी कर्तव्य का ईमानदारी से पालन करना चाहिए।

केवल समाजवादी राज्य सच्ची विदेशी आर्थिक सहायता देता है

सर्वहारा अन्तरराष्ट्रीयतावाद के सिद्धान्त के निर्देशन में समाजवादी राज्यों के बीच के आर्थिक सम्बन्ध पारस्परिक सहायता के सम्बन्ध होते है। वे एक-दूसरे को सहायता देते हैं, प्राप्तकर्ता देशों की सम्प्रभुता का पूरा सम्मान करते हैं, कोई शर्तें नहीं थोपते हैं और न ही बदले में विशेषाधिकारों की मांग करते हैं। वे सच्चे तौर पर प्राप्तकर्ता देश की मदद करते हैं ताकि वह अपनी जनता पर भरोसा करते हुए, अपने प्राकृतिक संसाधनों और सम्भावनाओं का दोहन कर सके, अपनी विशिष्टताओं के अनुरूप एक स्वतंत्र समाजवादी आर्थिक व्यवस्था स्थापित और विकसित कर सके और साथ-साथ समाजवादी रास्ते पर आगे बढ़ सके।

साथ ही, समाजवादी राज्य सर्वहारा अन्तरराष्ट्रीयतावाद के उसूलों के अनुसार राष्ट्रवादी राज्यों के साथ भी आर्थिक सम्बन्ध विकसित करने की कोशिश करता है। लम्बे समय तक औपनिवेशिक शासन में रहने के कारण राष्ट्रवादी देशों में एक असमान और आश्रित अर्थव्यवस्था स्थापित हुई है। इन देशों की ठोस परिस्थितियों के आधार पर समाजवादी देश सबसे पहले उन्हें एक विविधीकृत कृषि विकसित करने में यथासम्भव मदद देता है ताकि उनकी घरेलू आवश्यकताएं पूरी हो सकें और प्रमुख कृषि उत्पादों के आयात पर उनकी निर्भरता कम हो सके तथा राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था स्वस्थ ढंग से विकास करे। समाजवादी राज्य हल्के उद्योग विकसित करने में भी राष्ट्रवादी देशों की मदद देता है जो लोगों की रोजमर्रा की जरूरतों के लिए आयात पर निर्भरता से उन्हें मुक्त करता है। समाजवादी राज्य राष्ट्रवादी देशों को खुद अपने संसाधनों का इस्तेमाल कर कच्चे मालों से लेकर तैयार मालों तक के लिए एकीकृत औद्योगिक शाखाएं (भारी उद्योगों सहित) स्थापित करने में भी मदद करता है और साम्राज्यवाद तथा नये व पुराने उपनिवेशवाद के आर्थिक हमले को क्रमश: दरकिनार करते हुए स्वतंत्रता और आत्मनिर्भरता के रास्ते पर बढ़ने में इन देशों की सक्रिय सहायता करता है।

संक्षेप में, समाजवादी राज्य की विदेशी आर्थिक सहायता अन्तरराष्ट्रीय राजनीतिक संघर्ष के समन्वय में एक महत्वपूर्ण कारक है। यह ताकतवर के खिलाफ कमजोर के साथ खड़ी होती है, दुनिया की क्रान्तिकारी शक्तियों को मजबूत करती है और साम्राज्यवादियों तथा सामाजिक साम्राज्यवादियों द्वारा अपनायी गयी आक्रमण व युद्ध की नीति का विरोध करती है।

सर्वहारा अन्तरराष्ट्रीयतावाद के सिद्धान्त के आधार पर चीनी सरकार ने चीन की विदेशी आर्थिक सहायता के लिए आठ नीति निर्देशकों की 1964 में घोषणा की और फिर बार-बार इनकी पुष्टि की :

1. समानता और पारस्परिक लाभ के आधार पर विदेशी सहायता प्रदान करो। सहायता को एकतरफा उपहार नहीं, पारस्परिक सहायता मानो।
2. विदेशी सहायता देने में प्राप्तकर्ता देश की सम्प्रभुता का पूरी

तरह सम्मान करो। न कोई शर्त थोपो और न ही विशेषाधिकारों की मांग करो।

3. आर्थिक सहायता बिना ब्याज के या कम ब्याज पर दो। आवश्यकतानुसार ऋण की अदायगी की अवधि लम्बी रखो ताकि प्राप्तकर्ता देश पर बोझ कम पड़े।
4. सहायता का उद्देश्य प्राप्तकर्ता देश को चीन पर निर्भर बनाना नहीं बल्कि उसे आत्मनिर्भरता और स्वतंत्र आर्थिक विकास के रास्ते पर आगे बढ़ने में मदद करना है।
5. प्राप्तकर्ता देश में सहायता के लिए चुनी गई परियोजनाएं कम निवेश और जल्दी पूरी हो जाने वाली होनी चाहिए ताकि प्राप्तकर्ता देश अपनी आय और संचय बढ़ा सके।
6. अपने देश में उत्पादित श्रेष्ठतम उपकरण और कच्चा माल ही उपलब्ध कराया जाए और दाम अन्तरराष्ट्रीय बाजार की स्थितियों के अनुसार तय किये जाएं। यदि उपकरण और कच्चा माल स्वीकृत मानकों और गुणवत्ता से मेल न खाएं तो उनकी वापसी की गारण्टी हो।
7. किसी तरह की तकनीकी सहायता उपलब्ध कराते समय यह सुनिश्चित किया जाए कि प्राप्तकर्ता देश के कर्मी इस तकनीक में पूरी महारत हासिल कर लें।
8. प्राप्तकर्ता देश में आर्थिक निर्माण के लिए भेजे गये विशेषज्ञों को उस देश के विशेषज्ञों के समान ही वेतन व सुविधाएं मिलनी चाहिए। किसी विशेष व्यवहार या मांगों की इजाजत नहीं है।

चीन सरकार द्वारा घोषित उपरोक्त आठ सिद्धान्त विदेशी सहायता कार्य में अध्यक्ष माओ की सर्वहारा क्रान्तिकारी राजनयिक लाइन का मूर्त रूप हैं। ये चीन के विदेशी सहायता कार्य के व्यावहारिक अनुभव का एक समाहार भी हैं।

लोक गणराज्य की स्थापना के बाद से ही चीन विदेशी आर्थिक सहायता के उपरोक्त आठ सिद्धान्तों को लागू करता रहा है। मित्र देशों की आवश्यकताओं के अनुसार एशिया, अफ्रीका और लातिनी अमेरिका में कई निर्माण परियोजनाएं पूरी करायी गयी हैं और अन्य भौतिक संसाधन उपलब्ध कराये गये हैं। उदाहरण के लिए तंजानिया-जाम्बिया रेल मार्ग जो इस समय निर्माणाधीन है। यह तंजानिया की राजधानी दारेस्सलाम से शुरू होता है और तंजानिया व जाम्बिया के विस्तृत मैदानी इलाकों से होते हुए जाम्बिया की राजधानी लुसाका को जोड़ते हुए कापिरी एम पोशी तक जाता है। कुल 2000 किलोमीटर लम्बा यह रेलमार्ग ऊंचे पहाड़ों, गहरे खड्डों, नदियों और दलदलों से होकर जाता है। इलाका बीहड़ है, परियोजना विराट है, निवेश बहुत अधिक है और कठिनाइयां बेशुमार हैं। लेकिन तंजानिया और जाम्बिया की राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं को विकसित करने में इसकी बेहद महत्वपूर्ण भूमिका है। इसके निर्माण में तंजानिया, जाम्बिया और चीन के मजदूर और तकनीशियन अपने सुख-दुख बांटते हैं, मिलकर जूझते हैं और एक गहरी व सच्ची दोस्ती कायम कर रहे हैं। तंजानिया और जाम्बिया की जनता ने इस निर्माणाधीन रेलमार्ग को प्यार से ''दोस्ती की राह'' का नाम दिया है।

लोक गणराज्य की स्थापना के कुछ ही समय बाद से चीनी जनता ने विदेशी आर्थिक सहायता के सम्बन्ध में अपने कर्तव्य का निर्वाह शुरू कर दिया था। चीन के आर्थिक निर्माण के विकास और हमारी आर्थिक ताकत में बढ़ोत्तरी के साथ हमारी विदेशी सहायता का आकार और क्षेत्र क्रमशः विस्तृत होता गया है। लेकिन चीन अब भी एक विकासशील समाजवादी राज्य है। विभिन्न देशों की जनताओं को चीन द्वारा दिया गया समर्थन मुख्यतः राजनीतिक और नैतिक है। हम जो आर्थिक सहायता दे सकते हैं, वह बेहद सीमित है। चीन की समाजवादी क्रान्ति और समाजवादी निर्माण के ऊर्जस्वी विकास के साथ यह तय है कि हम इस कमी को दूर करेंगे और मानवता के प्रगतिशील उद्यम के लिए और अधिक योगदान कर सकेंगे।

समाजवादी राज्य के विदेश व्यापार को सक्रियता से विकसित करो

समाजवादी राज्य के विदेश व्यापार में नयी विशिष्टताएं होती हैं

विदेश व्यापार माल परिचलन की श्रेणी में आता है। समाज व्यवस्थाओं में अन्तर से विदेश व्यापार की प्रकृति में भी अन्तर पैदा होता है। पूंजीवादी व्यवस्था के तहत विदेश व्यापार हमेशा से पूंजी बढ़ाने का एक साधन रहा है। साम्राज्यवाद के दौर में माल निर्यात के साथ पूंजी निर्यात घनिष्ठ रूप से जुड़ गया। विदेश व्यापार एक महत्वपूर्ण साधन बन गया जिसके जरिए एकाधिकारी पूंजीवादी गुट आर्थिक हमले करता है, उच्च एकाधिकारी मुनाफा हड़पता है और विश्व प्रभुत्व के लिए होड़ करता है।

चीनी जनता साम्राज्यवादी आर्थिक हमले और लूट से अच्छी तरफ वाकिफ है। 1840 के अफीम युद्ध और 1949 में नये चीन की स्थापना के बीच के सौ से ज्यादा वर्षों में साम्राज्यवादी देशों ने चीनी जनता पर असमान संधियां थोपकर कई विशेषाधिकार हासिल कर लिये जिनमें चीन को अपने मालों और पूंजी निर्यात से पाट देना शामिल था। चीन की नौकरशाह पूंजी का प्रतिनिधित्व करने वाले चार खानदानों—च्याङ, सुङ, कुङ और चेन—के साथ मिलकर उन्होंने क्रूर शोषण और लूट-खसोट की। वे कृषि उत्पाद, हस्तशिल्प और खनिज सस्ते दामों पर खरीदते थे और औद्योगिक उत्पाद यहां महंगे दामों पर बेचते थे। पुराने चीन में विदेश व्यापार साम्राज्यवाद और इसके पिट्ठुओं द्वारा चीनी जनता का खून-पसीना निचोड़ने का एक जरिया था।

समाजवादी राज्य का विदेश व्यापार साम्राज्यवादी और सामाजिक साम्राज्यवादी देशों के विदेश व्यापार से एकदम भिन्न होता है। यह विदेश व्यापार का एक नया रूप है। समाजवादी देश का विदेश व्यापार उत्पादन के साधनों के सार्वजनिक स्वामित्व पर आधारित होता है। सर्वहारा अधिनायकत्व के अधीन देशों में विदेश व्यापार का विकास समाजवादी क्रान्ति तथा समाजवादी निर्माण को तेज करने और विश्व क्रान्ति को मदद करने के अनुकूल होता है।

समाजवादी राज्य के विदेश व्यापार की ये विशिष्टताएं होती हैं :

पहली, समाजवादी राज्य का विदेश व्यापार सर्वहारा अधिनायकत्व के अधीन राज्य द्वारा नियंत्रित स्वतंत्र विदेश व्यापार होता है।

समाजवाद के निर्माण में मदद तथा राष्ट्रीय स्वतंत्रता की हिफाजत की दृष्टि से विदेश व्यापार पर राजकीय नियंत्रण होना चाहिए। राष्ट्रीय मुक्ति के ठीक पहले अध्यक्ष माओ ने इंगित किया था कि ''लोक गणराज्य की अर्थव्यवस्था का संकट से उबरना और इसका विकास

विदेश व्यापार पर राजकीय नियंत्रण की नीति के बिना सम्भव नहीं होगा।''[8] मुक्ति के बाद चीन सरकार ने अध्यक्ष माओ की क्रान्तिकारी नीति को लागू किया, साम्राज्यवादी आर्थिक घुसपैठ को निकाल बाहर किया, चीन में साम्राज्यवाद के सभी विशेषाधिकारों को खत्म कर दिया, कस्टम प्रशासन को फिर से अपने हाथों में ले लिया और चीन के विदेश व्यापार पर विदेशी व्यापारियों के नियंत्रण को खत्म कर दिया। साथ ही, चीन सरकार ने नौकरशाह पूंजी के विदेश व्यापार के धन्धे को जब्त कर लिया, छोटे और मझोले पूंजीपतियों के आयात-निर्यात कारोबार को धीरे-धीरे रूपान्तरित कर दिया और पुराने चीन के विदेश व्यापार की अर्द्ध औपनिवेशिक प्रकृति को बुनियादी तौर पर बदल डाला। चीन का विदेश व्यापार सर्वहारा अधिनायकत्व के अधीन राज्य द्वारा नियंत्रित स्वतंत्र विदेश व्यापार बन गया है।

विदेश व्यापार पर राजकीय नियंत्रण चीन की राजनीतिक व आर्थिक आजादी की गारण्टी करने, चीन को साम्राज्यवादी आर्थिक घुसपैठ से बचाने, पूंजीवादी विश्व के आर्थिक संकटों के प्रभाव को कम से कम करने और विश्व के कई देशों के साथ समानता व पारस्परिक लाभ के आधार पर सामान्य वाणिज्यिक विनिमयों के जरिए समाजवादी निर्माण की गति तेज करने में मदद करता है।

दूसरे, समाजवादी राज्य का विदेश व्यापार मार्क्सवाद के निर्देशन में समानता व पारस्परिक लाभ पर टिका विदेश व्यापार होता है। विदेश व्यापार समाजवादी राज्य की वैदेशिक गतिविधियों का एक महत्वपूर्ण पहलू होता है। अपने विदेश व्यापार सम्बन्धों में समाजवादी राज्य समानता और पारस्परिक लाभ के सिद्धान्त को पूरी तरह लागू करता है, एक-दूसरे की सम्प्रभुता और आकांक्षाओं का सम्मान करता है, एक-दूसरे की आवश्यकताओं और सम्भावनाओं के बीच मेल कराता है और उचित दाम रखने के सभी प्रयास करता है।

अध्यक्ष माओ ने कहा है : ''हमें सबसे पहले समाजवादी देशों और लोक जनवादी देशों के साथ और फिर पूंजीवादी देशों के साथ व्यापार करने की कोशिश करनी चाहिए।''[9] हमें सर्वहारा अन्तरराष्ट्रीयतावाद के सिद्धान्त के मार्गदर्शन में और सक्रिय सहकार की भावना से समाजवादी देशों के बीच वाणिज्यिक विनिमयों को नियोजित ढंग से बढ़ाना चाहिए। हमें तीसरी दुनिया के देशों के साथ भी व्यापार और पारस्परिक विनिमय को यथासम्भव बढ़ाना चाहिए ताकि हमारी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं का आत्मनिर्भरता के आधार पर साझा विकास हो सके। हम विकासशील देशों द्वारा अपने कच्चे मालों, प्राथमिक उत्पादों व तैयार मालों के व्यापार की शर्तें सुधारने तथा उचित व लाभप्रद दाम तय करने के प्रयासों का समर्थन करते हैं। हम कच्चे माल का निर्यात करने वाले देशों का संगठन बनाने और उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद तथा प्रभुत्ववाद के खिलाफ एकजुट संघर्ष में उनका समर्थन करते हैं। हमें आवश्यकता, सम्भावना और परिस्थितियों के अनुसार पूंजीवादी देशों के साथ भी वाणिज्यिक विनिमय विकसित करना चाहिए। अध्यक्ष माओ ने इंगित किया है: ''जो लोग हमें विदेशों के साथ व्यापार करने से रोकना चाहते हैं वे साम्राज्यवादी और च्याङ काई-शेक जैसे उसके पिट्ठू ही हैं। आन्तरिक और बाहरी प्रतिक्रियावादी गुट को ध्वस्त करने के लिए सभी घरेलू और अन्तरराष्ट्रीय शक्तियों का आह्वान करने के बाद हम सभी देशों के साथ समानता, परस्पर लाभ और एक-दूसरे की क्षेत्रीय अखण्डता के सम्मान के आधार पर व्यापार कर सकते हैं और राजनयिक सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं।''[10] इसलिए, हमें इस बात का गम्भीरता से अहसास होना चाहिए कि साम्राज्यवादी और सामाजिक साम्राज्यवादी देशों के साथ वाणिज्यिक विनिमय एक संघर्षपूर्ण प्रक्रिया है।

विश्व बाजार में और पूंजीवादी देशों के साथ वाणिज्यिक विनिमय में समाजवादी देश को अपने आयात-निर्यात के लिए उचित दामों के वास्ते संघर्ष करना होता है। यह अन्तरराष्ट्रीय मंच पर सर्वहारा और बुर्जुआ वर्ग के बीच एक वर्ग संघर्ष है। समाजवादी राज्य का घरेलू बाजार अन्तरराष्ट्रीय बाजार से भिन्न होता है। निर्यात होने वाले मालों के दाम राजनयिक आवश्यकताओं तथा अन्तरराष्ट्रीय बाजार की स्थितियों के अनुसार लचीले ढंग से तय किये जाने चाहिए। इसी ढंग से समाजवादी देश उचित दामों पर अपना निर्यात कर सकता है। दाम के मामले में दो अलग प्रकृति के बाजारों का घालमेल करने का हम विरोध करते हैं। विदेशी बाजार में दामों के चढ़ाव-उतार को घरेलू बाजार में स्थानान्तरित करना और वहां दामों की स्थिरता को प्रभावित करना, या फिर घरेलू बाजार की स्थिर दाम नीति को अन्तरराष्ट्रीय बाजार में भी लागू करना और इस तरह हमारी मेहनतकश जनता द्वारा सृजित सम्पदा को बेवजह घाटा पहुंचाना—दोनों ही गलत हैं।

तीसरे, समाजवादी राज्य का विदेश व्यापार राजकीय प्रबन्धन के तहत नियोजित व केन्द्रीकृत विदेश व्यापार है।

केन्द्रीकृत नेतृत्व और एकीकृत विदेश नीति समाजवादी राज्य के विदेश व्यापार के बुनियादी सिद्धान्त हैं। इनका दृढ़ता से पालन करने का मतलब यह होता है कि मालों की विविधता के अनुसार श्रम और प्रबन्धन का तर्कसंगत ढंग से विभाजन किया जाए और ''एकीकृत समझ, एकीकृत नीति, एकीकृत नियोजन, एकीकृत कमान और एकीकृत कार्रवाई'' के आधार पर केन्द्रीय और स्थानीय सक्रियता को जगाया जाए।

नियोजित और केन्द्रीकृत विदेश व्यापार पूंजीवादी व्यवस्था पर समाजवादी व्यवस्था की श्रेष्ठता का द्योतक है। पूंजीवाद के तहत निजी स्वामित्व और उत्पादन की अराजक स्थितियां पूंजीवादी विदेश व्यापार की अन्धी और प्रतिस्पर्धापूर्ण प्रकृति का निर्धारण करती हैं। समाजवादी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के नियोजित और समानुपातिक विकास का तकाजा होता है कि विदेश व्यापार नियोजित हो और राज्य की आयात-निर्यात आवश्यकताओं तथा राष्ट्रीय आर्थिक योजना के अनुसार संचालित हो। समाजवादी राज्य का विदेश व्यापार राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के साथ-साथ विकसित होता है। यह समग्र राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास को भी सक्रिय प्रोत्साहन देता है।

स्वतंत्रता और आत्मनिर्भरता के आधार पर विदेश व्यापार विकसित करो

समाजवादी राज्य का विदेश व्यापार समाजवादी अर्थव्यवस्था के विकास में एक सक्रिय भूमिका निभाता है। लेकिन समाजवादी अर्थव्यवस्था का तीव्र, नियोजित और समानुपातिक विकास विदेशी बाजार पर नहीं बल्कि समाजवादी व्यवस्था और नियोजित अर्थव्यवस्था की श्रेष्ठता पर और देश की मेहनतकश जनता के परिश्रमपूर्ण संघर्ष पर निर्भर करता है। आत्मनिर्भरता और स्वतंत्रता आर्थिक निर्माण के दौरान समाजवादी राज्य की आधारभूत नीति का अंग होते हैं। इसी नीति को विदेश व्यापार में भी सख्ती से लागू किया जाना चाहिए।

स्वतंत्रता और आत्मनिर्भरता के आधार पर विदेश व्यापार विकसित करने के लिए उत्पादन और विदेश व्यापार के बीच के सम्बन्ध की सही समझदारी और इसका सही संचालन आवश्यक है। विदेश व्यापार और उत्पादन के बीच का सम्बन्ध परिचलन और उत्पादन के बीच का सम्बन्ध होता है। समाजवादी उत्पादन का विकास विदेश व्यापार के विस्तार का भौतिक आधार होता है। औद्योगिक और कृषि उत्पादन के विकास को तेजी से प्रोत्साहित करने पर ही निर्यात के लिए पर्याप्त माल उपलब्ध हो सकता है और तभी आवश्यक वस्तुओं का और अधिक आयात किया जा सकता है। परिचलन और उत्पादन के बीच की आन्तरिक कड़ी का तकाजा है कि विदेश व्यापार की शाखाएं औद्योगिक और कृषि उत्पादन के अग्रिम मोर्चों तक जाएं, उत्पादन के साथ जुड़ाव रखें और उसे प्रोत्साहित करें। उन्हें विदेशी बाजारों के बारे में जांच-पड़ताल और अनुसन्धान बढ़ाना चाहिए, नयी विदेशी तकनोलाजी, नये सैम्पल, नये उपकरणों और बेहतर विविधताओं से उत्पादन इकाइयों को सक्रियतापूर्वक परिचित कराना चाहिए और उत्पादन सम्बन्धी नयी चुनौतियां पेश करनी चाहिए ताकि एक परस्पर समर्थक और प्रोत्साहनकारी सम्बन्ध विकसित हो सके।

स्वतंत्रता और आत्मनिर्भरता के साथ विदेश व्यापार विकसित करने के लिए घरेलू व्यापार और विदेश व्यापार के बीच के सम्बन्ध की सही समझदारी और इसका सही संचालन भी आवश्यक है। दोनों ही किस्म के व्यापार परिचलन के दायरे में आते हैं। उनका बुनियादी लक्ष्य एक ही है, यानी समाजवादी राज्य और जनता की आवश्यकताओं को पूरा करना। लेकिन इनके बीच कुछ अन्तरविरोध भी हैं। उदाहरण के लिए, हालांकि चीन के उद्योग का काफी विकास हुआ है फिर भी पुराने आधार की कमजोरी के कारण आपूर्ति की तुलना में मांग अधिक होने के चलते घरेलू व्यापार और विदेश व्यापार के बीच मालों के आवण्टन में प्राय: अन्तरविरोध उत्पन्न होते हैं। निर्यात बढ़ाने के लिए घरेलू व्यापार की आपूर्ति में उतनी ही कमी करनी पड़ती है। हालांकि इसके परिणामस्वरूप खरीदे जा सकने वाले उत्पादन के साधनों से संचय बढ़ाने और पुनरुत्पादन का विस्तार करने में मदद मिलती है। इसलिए, यह दरअसल संचय और उपभोग के बीच और दीर्घकालिक हितों और अल्पकालिक हितों के बीच का अन्तरविरोध है। घरेलू और विदेश व्यापार के बीच के अन्तरविरोध को सही ढंग से हल करने की शुरुआत राष्ट्रीय निर्माण और जनता की आजीविका की आवश्यकताओं से होनी चाहिए और घरेलू बाजार पर निर्भर होनी चाहिए। साथ ही, विदेशी बाजार के महत्व को अनदेखा नहीं किया जाना चाहिए और उचित व्यवस्थाओं के जरिए इसका ध्यान रखा जाना चाहिए। राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था और जनता की आजीविका को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित करने वाले सभी मालों को सबसे पहले घरेलू आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए इस्तेमाल किया जाना चाहिए और उनका निर्यात राजकीय योजना के अनुसार नियंत्रित होना चाहिए। जनता की आजीविका के साथ मामूली तौर पर ही जुड़े हुए मालों के घरेलू व्यापार को उचित अनुपात में कम करके उनका निर्यात बढ़ाया जाना चाहिए। कुछ माल जनता की आजीविका के लिए गैर महत्वपूर्ण हैं और उनका यथासम्भव अधिक निर्यात किया जाना चाहिए।

ल्यू शाओ-ची और लिन पियाओ के गद्दार गुट ने विदेश व्यापार के मोर्चे पर ''विदेशी मुद्रा को कमान में रखने'' के नारे का समर्थन किया। उनकी कोशिश समाजवादी राज्य के विदेश व्यापार की राजनीतिक दिशा को बदल डालने और चीन को साम्राज्यवाद के आर्थिक उपग्रह में बदल डालने की थी। समाजवादी राज्य इस मार्ग पर कभी नहीं चलेगा।

समाजवादी राज्य के विदेश व्यापार की सक्रिय भूमिका का पूरा इस्तेमाल करो

समाजवादी राज्य का विदेश व्यापार समाजवादी अर्थव्यवस्था का एक घटक है। यह विदेशी सम्पर्क बनाने का एक माध्यम भी है। विदेश व्यापार को नियोजित ढंग से विकसित करने और इसकी सक्रिय भूमिका का पूरा इस्तेमाल करने से हमारे अपने देश की आत्मनिर्भरता की क्षमता बढ़ती है और इस तरह समाजवादी निर्माण की रफ्तार तेज होती है तथा विभिन्न देशों की जनता के बीच मित्रता प्रगाढ़ होती है। यह विश्व क्रान्ति के हित में होता है।

दुनिया में ऐसा कोई अकेला देश नहीं है जो अपनी जरूरत की हर चीज खुद ही पैदा कर सकता हो। स्वतंत्रता और आत्मनिर्भरता की नीति पर दृढ़ता से कायम रहकर समाजवादी राज्य विस्तारित पुनरुत्पादन में समानुपातिक सम्बन्धों को नियमित करने के लिए विदेश व्यापार को एक साधन के रूप में इस्तेमाल कर सकता है और उसे ऐसा करना चाहिए। विदेश व्यापार के जरिए कुछ उत्पादों और कच्चे मालों की अस्थायी कमी को पूरा करने के लिए अत्यावश्यक सामग्रियों का आयात किया जा सकता है। इसके जरिए कुछ उन्नत तकनोलाजी का आयात किया जा सकता है जिसे आगे बढ़ने के लिए एक मॉडल के तौर पर पेश करके औद्योगिक और कृषि उत्पादन में तकनीकी अभिनवीकरण को प्रोत्साहित किया जा सकता है। विदेश व्यापार को नियोजित ढंग से विकसित करने से समाजवादी निर्माण को तेज करने में मदद मिलती है। लेकिन इसके लिए हम स्वतंत्रता और आत्मनिर्भरता की नीति को छोड़ नहीं सकते। चिङ वंश में त्सेङ कुओ-फान और ली हुङ-चाङ से लेकर आज के ल्यू शाओ-ची और लिन पियाओ तक मुट्ठी भर गद्दार विदेशी चीजों के प्रति दासता भरे रवैये के हिमायती रहे हैं। वे हमेशा ही चीन के सर्वहारा और मेहनतकश जनता की कमियों की आलोचना करते रहे। उनके लिए सिर्फ पश्चिमी बुर्जुआ वर्ग ही श्रेष्ठ था। विदेश व्यापार में उन्होंने हमेशा ही आयात पर निर्भरता की हिमायत की। ''विदेशों में चांद भी ज्यादा गोल होता है।'' चीन की मेहनतकश जनता परिश्रमी, साहसी और बुद्धिमत्तापूर्ण है। मुक्ति के बाद से चीन की मेहनतकश जनता समाजवादी राज्य की कर्ताधर्ता बन चुकी है और बुद्धिमत्ता और प्रतिभा का प्रस्फोट हुआ है। जो कुछ पश्चिमी बुर्जुआ कर सकता है वह सब चीन का सर्वहारा भी कर सकता है। पश्चिम का बुर्जुआ जो नहीं कर सकता वह भी चीनी सर्वहारा कर सकता है। लिन पियाओ के पार्टी विरोधी गुट द्वारा सोवियत संशोधनवादी साम्राज्यवाद के सामने समर्पण और विश्वासघात का असफल प्रयास भी चीन के शोषक वर्ग की पतनशील आत्मिक अवस्था का ही द्योतक था। विदेश व्यापार के दायरे में चीन का सर्वहारा स्वतंत्रता और आत्मनिर्भरता की नीति पर दृढ़ता से अमल करता है, और विदेशी चीजों की पूजा करने और उनके प्रति दासतापूर्ण रवैया अपनाने वाले ल्यू शाओ-ची और लिन पियाओ की क्रान्तिविरोधी संशोधनवादी लाइन की आलोचना करता है। ''हमें समाजवादी निर्माण के भविष्य को दूसरे के कन्धों पर नहीं डालना चाहिए।'' यह चीन की मेहनतकश आबादी का जवाब है।

समानता और परस्पर लाभ के आधार पर समाजवादी देशों के बीच व्यापारिक सम्बन्धों का विकास एक-दूसरे की अर्थव्यवस्था के तेज विकास को प्रोत्साहित कर सकता है और साम्राज्यवाद विरोधी तथा संशोधनवाद विरोधी ताकतों को मजबूत कर सकता है। समाजवादी राज्यों और राष्ट्रवादी राज्यों के बीच व्यापारिक रिश्ते स्वतंत्र राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं को विकसित करने और महाशक्तियों के आक्रामक विस्तार की नीति का विरोध करने में मदद करते हैं। समाजवादी राज्यों और पूंजीवादी राज्यों के बीच व्यापारिक रिश्ते अन्तरराष्ट्रीय साम्राज्यवाद विरोधी संयुक्त मोर्चे का विस्तार करने और दो महाशक्तियों, अमेरिका तथा सोवियत संघ के बीच प्रभुत्व की होड़ का विरोध करने में मदद करते हैं। इसलिए समाजवादी राज्य का विदेश व्यापार सर्वहारा राजनयिक लाइन को लागू करने का भी एक साधन है।

लोक गणराज्य की स्थापना के बाद से ही अध्यक्ष माओ की क्रान्तिकारी लाइन के मार्गदर्शन में चीन के विदेश व्यापार ने औद्योगिक और कृषि उत्पादन के विकास को प्रोत्साहित किया है, विदेशों में चीन के प्रभाव का विस्तार किया है और विश्व क्रान्ति की मदद की है। इस दिशा में महत्वपूर्ण उपलब्धियां हासिल की गई हैं। अब से विदेश व्यापार का और विकास हमें सर्वहारा अन्तरराष्ट्रीयतावाद को बेहतर ढंग से लागू करने, अपने यहां समाजवादी निर्माण को तेज करने और विश्व क्रान्ति को बेहतर ढंग से समर्थन देने में मदद करेगा।

अध्ययन के लिए प्रमुख सन्दर्भ

मार्क्स, ''मुक्त व्यापार पर एक भाषण'', **मार्क्स-एंगेल्स की चुनी हुई कृतियां,** खण्ड 1

लेनिन, ''राष्ट्रों और उपनिवेशों के मुद्दे पर एक प्रारूप की रूपरेखा''

लेनिन, ''विदेश व्यापार की एकाधिकारी प्रणाली'', **लेनिन की सम्पूर्ण रचनाएं**, खण्ड 33

माओ, ''चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की सातवीं केन्द्रीय कमेटी के दूसरे प्लेनरी सत्र में प्रस्तुत रिपोर्ट''

समीक्षात्मक प्रश्न

1. समाजवादी राज्य के वैदेशिक आर्थिक सम्बन्ध सर्वहारा क्रान्तिकारी राजनयिक लाइन के मातहत क्यों होने चाहिए? सोवियत संशोधनवादी वैदेशिक आर्थिक सम्बन्धों की प्रतिक्रियावादी प्रकृति क्या है?

2. समाजवादी राज्य की विदेशी आर्थिक सहायता को अन्तरराष्ट्रीयतावादी कर्तव्यों का पालन क्यों करना चाहिए?

3. समाजवादी राज्य के विदेश व्यापार की क्या विशिष्टताएं हैं?

टिप्पणियां

1. **जन दैनिक** (पीपुल्स डेली), 7 नवम्बर, 1957

2. माओ, ''जनता के बीच के अन्तरविरोधों को सही ढंग से हल करने के बारे में'', **सेलेक्टेड रीडिंग्स,** भाग 1, पृ. 363-64

3. ''मार्क्सवाद के उपहास और 'साम्राज्यवादी अर्थवाद' के बारे में'', **लेनिन की सम्पूर्ण रचनाएं**, खण्ड 23, पृ. 26, अंग्रेजी संस्करण

4. ''जनता के जनवादी अधिनायकत्व के बारे में'', **माओ त्से-तुङ की संकलित रचनाएं**, भाग 4, पृ. 274, चीनी संस्करण

5. ''राष्ट्रों और उपनिवेशों के मुद्दे पर एक प्रारूप की रूपरेखा'', **लेनिन की चुनी हुई रचनाएं**, खण्ड 4

6. यानी साम्राज्यवाद, आधुनिक संशोधनवाद और विभिन्न देशों के प्रतिक्रियावादियों के साथ ''शान्ति'' और विभिन्न देशों की क्रान्तिकारी जनताओं के न्यायपूर्ण संघर्षों को ''कम'' सहायता देना।

7. **जन दैनिक**, 9 अगस्त 1963 से उद्धृत

8. ''चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की सातवीं केन्द्रीय कमेटी के दूसरे प्लेनम में प्रस्तुत रिपोर्ट'', **माओ त्से-तुङ की संकलित रचनाएं,** भाग 4, पृ. 1323

9. उपरोक्त, पृ. 1325

10. ''जनता के जनवादी अधिनायकत्व के बारे में'', **माओ त्से-तुङ की संकलित रचनाएं,** भाग 4, पृ. 1362, चीनी संस्करण

अध्याय 23

कम्युनिज्म की ओर प्रयाण

समाजवादी समाज से कम्युनिस्ट समाज की ओर

मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओ त्से-तुङ विचारधारा द्वारा प्रतिपादित समाजवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र का सिद्धान्त उत्पादन के समाजवादी सम्बन्धों के निर्माण और विकास के गति के नियमों का वैज्ञानिक ढंग से विश्लेषण प्रस्तुत करता है। यह समाजवादी समाज के कम्युनिस्ट समाज में विकसित होने की ऐतिहासिक अपरिहार्यता को भी उद्घाटित करता है। कम्युनिज्म सर्वहारा और लाखों-लाख मेहनतकश जनता का उच्चतम आदर्श होता है। यह सबसे अधिक सम्पूर्ण, सबसे ज्यादा प्रगतिशील, सर्वाधिक क्रान्तिकारी और सबसे अधिक तर्कपरक सामाजिक व्यवस्था है। सर्वहारा क्रान्ति का यह अन्तिम लक्ष्य है। अध्यक्ष माओ ने कहा है, ''एक समाजवादी और कम्युनिस्ट समाज की स्थापना करना ही वह अन्तिम लक्ष्य है जिसके लिए सभी कम्युनिस्ट प्रयत्नशील हैं।''[1] प्रत्येक स्त्री अथवा पुरुष क्रान्तिकारी योद्धा को कम्युनिज्म के लिए ताउम्र संघर्ष करना चाहिए।

कम्युनिज्म ऐतिहासिक विकास की एक अप्रतिरोध्य रुझान है

कम्युनिस्ट समाज की ओर बढ़ने के मार्ग में समाजवादी समाज एक आवश्यक मंजिल है

लेनिन ने कहा है, ''मानव जाति पूंजीवाद से सीधे केवल समाजवाद में, यानी उत्पादन के साधनों के सामाजिक स्वामित्व तथा हरेक व्यक्ति के कार्य की मात्रा के अनुसार उत्पादों के वितरण तक

ही पहुंच सकती है।''[2] समाजवादी समाज में उत्पादन के साधनों पर सार्वजनिक स्वामित्व स्थापित हो जाता है, मेहनतकश लोग समाज और उद्यमों के स्वामी बन जाते हैं और मार्क्सवाद समाज की मार्गदर्शक विचारधारा बन जाती है। इन अर्थों में समाजवादी समाज में कम्युनिज्म के तत्व होते हैं। फिर भी, समाजवाद कम्युनिस्ट समाज की सिर्फ पहली मंजिल ही होता है। अभी वह एक अपरिपक्व कम्युनिस्ट समाज होता है। समाजवादी समाज में, उत्पादन-सम्बन्ध और अधिरचना दोनों के ही मामलों में पूंजीवादी परम्परा और जन्मचिन्ह अभी भी मौजूद रहते हैं, बुर्जुआ अधिकार बने रहते हैं और बुर्जुआ अधिकारों की विचारधारा मौजूद रहती है। वर्ग सम्बन्धों के परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो, वर्ग, वर्ग अन्तरविरोध और वर्ग संघर्ष आदि से अन्त तक मौजूद रहते हैं। सर्वहारा और बुर्जुआ वर्ग के बीच संघर्ष जारी रहता है, समाजवादी और पूंजीवादी रास्तों के बीच संघर्ष मौजूद रहता है। इन्हीं अर्थों में समाजवादी समाज कम्युनिस्ट समाज से भिन्न होता है।

समाजवादी दौर में, बुर्जुआ वर्ग पर सभी क्षेत्रों में और क्रान्ति के विकास की सभी मंजिलों में सर्वतोमुखी अधिनायकत्व कायम करने के लिए सतत उद्यमशील रहना, बुर्जुआ वर्ग को पूर्णत: पराजित करना, आम तौर से सभी वर्गों और वर्ग-विभेदों को समाप्त करना, उन समस्त उत्पादन सम्बन्धों का नाश करना जिन पर वे आधारित होते हैं, उत्पादन के इन सम्बन्धों के अनुरूप बनने वाले सभी सामाजिक सम्बन्धों का उन्मूलन करना, इन सामाजिक सम्बन्धों से उपजे विचारों का क्रान्तिकारीकरण और समाजवादी समाज को एक उन्नत तथा अधिक परिपक्व कम्युनिस्ट समाज की ओर बढ़ाना सर्वहारा का ऐतिहासिक कार्यभार होता है। इस प्रकार, समाजवादी समाज कम्युनिस्ट समाज की एक आवश्यक तैयारी होती है और इसके उलट कम्युनिस्ट समाज समाजवादी समाज के विकास की एक वस्तुगत रुझान होता है।

तब परिपूर्ण कम्युनिस्ट समाज क्या है?

कम्युनिस्ट समाज सर्वाधिक सम्पूर्ण, सर्वाधिक प्रगतिशील, सर्वाधिक क्रान्तिकारी और सर्वाधिक युक्तिसंगत समाज होता है

वैज्ञानिक कम्युनिज्म की सुनिश्चित अन्तर्वस्तु होती है। मार्क्सवाद-लेनिनवाद माओ त्से-तुङ विचारधारा के अनुसार कम्युनिस्ट समाज एक ऐसा समाज है जिसमें वर्ग और वर्ग विभेद पूर्ण रूप से समाप्त हो जाते हैं। यह एक ऐसा समाज है जिसमें समूची जनता उन्नत स्तर की कम्युनिस्ट चेतना और कम्युनिस्ट नैतिकता से लैस होती है। यह एक ऐसा समाज है जिसमें सामाजिक उत्पाद की प्रचुरता होती है। जिसमें ''हरेक से उसकी योग्यता के अनुसार, हरेक को उसकी आवश्यकतानुसार'' के सिद्धान्त को अपना लिया जाता है। इस समाज में राज्य का विलोपीकरण हो जाता है।

मार्क्स ने इंगित किया है, ''कम्युनिस्ट समाज की उच्चतर अवस्था में, व्यक्ति की श्रम विभाजन के प्रति दासत्वपूर्ण अधीनता और उसी के साथ-साथ मानसिक तथा शारीरिक श्रम के अन्तरविरोध का लोप हो जाने के बाद, श्रम के जीवन के मात्र एक साधन ही नहीं अपितु जीवन की सर्वोपरि आवश्यकता बन चुकने के बाद, व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के साथ उत्पादक शक्तियों के बढ़ जाने और सामाजिक सम्पदा के सभी स्रोतों के अधिक प्रचुरता से प्रवहमान होने के बाद— तब कहीं जाकर बुर्जुआ अधिकार के संकीर्ण क्षितिज को पूर्णत: लांघा जा सकेगा और समाज अपनी पताका पर ये शब्द अंकित कर सकेगा : प्रत्येक से उसकी क्षमतानुसार, प्रत्येक को उसकी आवश्यकतानुसार।''[3]

वैज्ञानिक कम्युनिज्म के मार्क्सवादी सिद्धान्त के अनुसार कम्युनिस्ट समाज को वास्तविकता में बदलने के लिए निम्नलिखित शर्तों का उत्पन्न होना आवश्यक है।

पहला, सभी वर्गों और वर्ग विभेदों—जिसमें मजदूर और किसान के बीच का अन्तर, शहर और गांव का अन्तर तथा शारीरिक और मानसिक श्रम का अन्तर शामिल है—पूर्ण उन्मूलन व बुर्जुआ अधिकार का समूल नाश। कम्युनिस्ट समाज में पूंजीवादी पुनर्स्थापना के आधार का पूर्णतया सफाया किया जा चुका होगा। प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण विकसित नया कम्युनिस्ट होगा। लोग सामाजिक विकास के वस्तुगत नियमों को सचेतन रूप से आत्मसात करेंगे और कम्युनिस्ट समाज को अबाध रूप से आगे बढ़ायेंगे। बेशक, वर्गों और वर्ग-विभेदों के खात्मे का यह अर्थ नहीं है कि कम्युनिस्ट समाज में अन्तरविरोध और संघर्ष रहेंगे ही नही। आर्थिक मूलाधार और अधिरचना के बीच तथा उत्पादन सम्बन्ध और उत्पादक शक्तियों के बीच अन्तरविरोध तब भी मौजूद होंगे, उन्नत व पिछड़े तथा सही और गलत कार्यदिशाओं के बीच उस समय भी संघर्ष चलते रहेंगे। अत: कम्युनिस्ट समाज में भी यह अनिवार्य होगा कि क्रान्ति सतत जारी रहे।

दूसरा, उत्पादन के साधनों पर समूची जनता द्वारा स्वामित्व की एकल कम्युनिस्ट व्यवस्था कायम करना। कम्युनिस्ट समाज में समूची जनता द्वारा कायम स्वामित्व की कम्युनिस्ट व्यवस्था एकमात्र आर्थिक मूलाधार बन जाएगी। उत्पादन के सर्वाधिक उन्नत कम्युनिस्ट सम्बन्ध जो स्वामित्व की इस व्यवस्था की जमीन पर खड़े होते हैं, उत्पादक शक्तियों के तीव्रतम सम्भव विकास की गारण्टी देते हैं, फलस्वरूप श्रम उत्पादकता में उत्तरोत्तर बढ़ती रफ्तार से वृद्धि होती रहती है। समूची जनता द्वारा कम्युनिस्ट स्वामित्व हासिल करने के लिए विकास की समाजवादी मंजिल में वैसी परिस्थितियों को निर्मित करना आवश्यक होता है, जैसे कि, स्वामित्व की व्यवस्था में बुर्जुआ अधिकार को अन्तिम तौर पर खत्म कर देना, समाजवादी सामूहिक स्वामित्व से क्रमश: उन्नत करते हुए समूची जनता के समाजवादी स्वामित्व के धरातल तक ले जाना और फिर समूची जनता के समाजवादी स्वामित्व से समूची जनता के कम्युनिस्ट स्वामित्व तक ले जाना। चीनी जनता द्वारा गठित जन-कम्यून इस संक्रमण को सुगम बनाने का सर्वश्रेष्ठ सांगठनिक स्वरूप है।

तीसरा, अत्यधिक प्रचुर मात्रा में सामाजिक उत्पादों का सृजन। कम्युनिस्ट समाज के अस्तित्व में आने पर सामाजिक उत्पादक शक्तियां नयी ऊंचाई तक विकसित हो चुकी होंगी। प्रकृति पर विजय हासिल करने की लोगों की क्षमता आज से अतुलनीय रूप से बढ़ चुकी होगी। उस समय लोग, मानव समाज की सेवा के लिए समस्त प्राकृतिक संसाधनों का पूरी तौर से इस्तेमाल कर सकेंगे और सभी मेहनतकशों व समूचे समाज की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अत्यन्त प्रचुर मात्रा में सामाजिक उत्पाद पैदा करेंगे। उस समय माल उत्पादन बन्द हो

चुका होगा। माल और मुद्रा जो माल अर्थव्यवस्था के केन्द्र होते हैं, अन्ततः ऐतिहासिक रंगमंच से उतारकर इतिहास के संग्रहालय में धकेल दिये जाएंगे। कम्युनिस्ट समाज में सामाजिक उत्पादक शक्तियों के विकास के स्तर की, उत्पादक शक्तियों के विकास के मौजूदा स्तर के साथ तुलना ही नहीं की जा सकती। कम्युनिज्म को यथार्थ में बदलने के लिए यह जरूरी है कि सामाजिक उत्पादक शक्तियों का अत्यधिक विकास किया जाए।

चौथा, समूची जनता के बीच ऊंचे दर्जे की कम्युनिस्ट विचारधारात्मक चेतना विकसित और नैतिक मानदण्ड पैदा करना। कम्युनिस्ट समाज बुर्जुआ विचारधारा और स्वार्थ की समस्त अवधारणाओं का पूरी तरह सफाया कर देगा। तब श्रम जीवन का एक साधन मात्र (जीविकोपार्जन करने का साधन) नहीं रह जाएगा अपितु जीवन की स्वयं सर्वोपरि आवश्यकता बन जाएगा। समूचा विश्व सम्पूर्णतः एक नया रूप ग्रहण कर लेगा व अभिनव विचार, नूतन संस्कृति, नये रिवाज और सर्वहारा वर्ग के व्यवहार के नये विचारधारात्मक मानक आम प्रचलन बन जाएंगे। ठीक वैसा ही जैसा कि अध्यक्ष माओ इंगित करते हैं, ''जब समस्त मानव जाति स्वेच्छा से और जागरूक होकर अपने अन्दर परिवर्तन लायेगी और दुनिया में परिवर्तन लायेगी तभी विश्व कम्युनिज्म के युग का उदय होगा।''[4] निस्सन्देह उस समय भी उन्नत व पिछड़े के बीच, सही और गलत में तथा भौतिकवाद व भाववाद के बीच अन्तरविरोध मौजूद रहेंगे और लोगों के बीच तब भी संघर्ष चलता रहेगा। परन्तु संघर्ष का स्वरूप और प्रकृति उससे भिन्न होगी जैसा कि वर्ग समाज में होता है।

पांचवां, ''प्रत्येक से उसकी क्षमतानुसार, प्रत्येक को उसकी आवश्यकतानुसार'' के सिद्धान्त को अपनाना। कम्युनिस्ट समाज के अस्तित्व में आने पर, चूंकि उत्पादन के समस्त साधनों को समूची जनता के स्वामित्व की एकमात्र कम्युनिस्ट व्यवस्था के अधीन लाया जा चुका होगा, शारीरिक और मानसिक श्रम के बुनियादी भेद मिटाये जा चुके होंगे, चूंकि सामाजिक उत्पाद की अत्यधिक प्रचुरता होगी और लोगों की विचारधारात्मक चेतना अत्यन्त उन्नत स्तर पर पहुंच चुकी रहेगी तथा चूंकि श्रम जीवन का साधन मात्र नहीं रह जाएगा वरन् जीवन की स्वयं सर्वोपरि आवश्यकता बन चुका होगा, तब व्यक्तिगत उपभोक्ता सामग्रियों का वितरण लोगों द्वारा समाज को प्रदत्त श्रम से नहीं बल्कि उनकी आवश्यकताओं से निर्धारित होगा। उस समय तक जनता के भौतिक और सांस्कृतिक जीवन की समस्त युक्तिसंगत आवश्यकताएं पूर्णतः पूरी की जा सकेंगी।

छठा, राज्य का स्वतः विलोपीकरण हो जाएगा। समूचे विश्व में साम्राज्यवाद, पूंजीवाद व समस्त शोषक व्यवस्थाओं के सम्पूर्ण उन्मूलन के साथ, और वर्गों तथा वर्ग विभेदों के खात्मे के साथ ही वर्ग संघर्ष के उपकरण के रूप में राज्य का अनिवार्यतः लोप हो जाएगा। अध्यक्ष माओ ने स्पष्ट किया है, ''जब वर्ग खत्म हो जाएंगे, तो इसके परिणामस्वरूप वर्ग संघर्ष के तमाम हथियारों—राजनीतिक पार्टियों और राज्य मशीनरी का काम भी समाप्त हो जाएगा, वे आवश्यक नहीं रह जाएंगे, इसलिए उनका क्रमशः विलोप होता जाएगा तथा वे अपना ऐतिहासिक मिशन पूरा कर लेंगे; और मानव समाज एक और ऊंची मंजिल में प्रवेश करेगा।''[5]

अध्यक्ष माओ ने काफी पहले ही हमें हिदायत दी थी, ''कम्युनिज्म सर्वहारा वर्ग की एक पूर्ण विचार व्यवस्था होने के साथ-साथ एक नयी समाज-व्यवस्था भी है। वह अन्य किसी भी विचार-व्यवस्था और समाज व्यवस्था से भिन्न है तथा मानव जाति के इतिहास में सबसे ज्यादा सम्पूर्ण, सबसे ज्यादा प्रगतिशील, सबसे ज्यादा क्रान्तिकारी और सबसे ज्यादा युक्तिसंगत व्यवस्था है।''[6] कम्युनिस्ट समाज एक अपार तेजस्विता और असीम सौन्दर्य से परिपूर्ण समाज है। यह मानव जाति का सर्वाधिक आदर्श समाज है।

नकली कम्युनिज्म असली पूंजीवाद है

इतिहास का द्वन्द्वात्मक विकास ऐसा है कि मार्क्सवाद की सैद्धान्तिक विजय उसके शत्रुओं को *मार्क्सवाद का मुखौटा* **लगाने** को बाध्य करती है।[7] सोवियत संशोधनवादी गद्दार गुट और ल्यू शाओ-ची व लिन पियाओ जैसे धोखेबाज आज के छद्म मार्क्सवादी हैं। वे पूंजीवादी पुनर्स्थापना के काम में जुटे रहने के लिए ''कम्युनिज्म'' के लेबल का इस्तेमाल करते हैं।

सोवियत संशोधनवादी गद्दार गुट का नकली कम्युनिज्म आज के समय के तमाम नकली कम्युनिज्म का खांटी प्रतिनिधि है। सोवियत संशोधनवादी, ''उत्पादक शक्तियों का सिद्धान्त'' और ''मानव स्वभाव'' जैसी प्रतिक्रियावादी अवस्थितियों से प्रस्थान करते हैं तथा मूर्खतापूर्ण तरीके से घोषित करते हैं कि, ''कम्युनिज्म सबसे अधिक मानवीय और परोपकारी विचारधारात्मक व्यवस्था है'', कि यह ''सब कुछ जनता के लिए व सब कुछ जनता की खुशियों के लिए'' है और इसमें ''गोश्त के साथ पनीर'' का एक बढ़िया व्यंजन है। उन्होंने कभी भी सभी वर्गों और वर्ग विभेदों के पूर्ण खात्मे की चर्चा नहीं की, न ही उस बुर्जुआ अधिकार की कटौती व उसके अन्तिम उन्मूलन की बात की, जो बुर्जुआ वर्ग और पूंजीवाद के फलने-फूलने की जमीन तैयार करता है। वे वैज्ञानिक कम्युनिज्म को उसकी क्रान्तिकारी अन्तर्वस्तु से पूरी तरह रिक्त कर देते हैं। इस ब्राण्ड का कम्युनिज्म न केवल नकली है बल्कि अत्यन्त प्रतिक्रियावादी भी होता है। यह ''कम्युनिज्म'' क्षरित होते बुर्जुआ वर्ग के दृष्टिकोण पर केन्द्रित होता है। यह बुर्जुआ वर्ग की जीवन शैली के अनुरूप ढला होता है। यह नकली कम्युनिज्म और असली पूंजीवाद है।

चीन में लिन पियाओ जैसे गद्दारों ने भी नकली कम्युनिज्म की फेरी लगाने में एड़ी-चोटी का जोर लगा दिया था। उन्होंने घोषित किया कि कम्युनिज्म ''सार्वजनिक सम्पत्तिवाद'' है, कि ''सम्पत्ति'' शब्द को कम्युनिज्म के झण्डे पर अंकित होना चाहिए'' और कि कम्युनिज्म ''प्रत्येक को समृद्ध'' बनाता है। गद्दार गुट ने जमीन्दारों और पूंजीपतियों से छुटकारा पाने की बात कभी नहीं की, उन्होंने जिस चीज की सबसे अधिक परवाह की वे मात्र ''सर्वजन'' और ''सम्पत्ति'' जैसे शब्द थे।

वह ''सर्वजन'' किस वर्ग का था? किस वर्ग की ''सम्पत्ति'' थी वह? यह स्पष्ट है। उनका तथाकथित ''सर्वजन'' वही था, जिसकी कन्फ्यूशियस और उसकी तरह के लोगों ने वकालत की थी : ''जब महान ताओ पूरी दुनिया में छा जाएगा तो एक सर्वजन की भावना का धरती की समस्त चीजों पर शासन होगा।'' अतः यह दास स्वामी का ''सर्वजन'' था, जमीन्दारों व पूंजीपतियों का ''सर्वजन'' था! तथाकथित ''सम्पत्ति'' दास स्वामी की ''सम्पत्ति'' थी तथा जमीन्दारों व पूंजीपतियों की ''सम्पत्ति'' थी। समृद्ध होने का अर्थ मात्र इतना ही हो सकता था कि शोषक वर्गों के ये मुट्ठीभर लोग करोड़पति

बन जाएं। यदि ये गद्दार अपनी साजिशों में कामयाब हो गये होते तो सर्वहारा और मेहनतकशों की व्यापक आबादी के हाथों से एक बार फिर उत्पादन के सभी साधन छिन जाते और वे एक बार पुनः दासों की दशा तक पहुंच कर कठिनाई और पीड़ा के अथाह गर्त में डूब जाते। सोवियत संघ में ऐसा ही हुआ है। सर्वहारा और मेहनतकशों की विशाल आबादी द्वारा संयुक्त रूप से पैदा की गई सम्पदा का हरण सोवियत संशोधनवादी गद्दार गुट पहले ही कर चुका है। यह सम्पदा एक छोटे से नौकरशाह एकाधिकारी पूंजीपति वर्ग की ''सार्वजनिक सम्पत्ति'' बन चुकी है। सोवियत संघ की विशाल आबादी वेदना के गहरे दलदल में धंस जा चुकी है और जार के युग का कठिनाइयों भरा जीवन एक बार फिर जीने को वह बाध्य है। माओ त्से-तुङ ने अत्यन्त कटुता के साथ कहा था, ''आज सोवियत संघ पर पूंजीपति वर्ग का अधिनायकत्व है, बड़े पूंजीपति वर्ग की तानाशाही है, जर्मन फासीवादी ढंग की और हिटलर जैसी तानाशाही कायम है।''[8] अतः, यह बिल्कुल साफ है कि लिन पियाओ गुट द्वारा समर्थित ''सार्वजनिक सम्पत्तिवाद'' मार्क्सवाद के वैज्ञानिक कम्युनिज्म के विरोध में खड़ा है और ठीक उसी प्रकार का कूड़ा-करकट है जैसा कि सोवियत संशोधनवाद का नकली कम्युनिज्म।

कम्युनिस्ट आन्दोलन का इतिहास यह स्पष्ट रूप से बताता है कि कम्युनिज्म अप्रतिरोध्य है। प्रतिक्रियावादी इतिहास के चक्र को पीछे घुमाने की चाहे जितनी मशक्कत कर लें समूची दुनिया में अन्तिम रूप से पूर्ण विजय कम्युनिज्म की ही होगी।

कम्युनिज्म की प्राप्ति एक गहरी सामाजिक क्रान्ति है

सर्वहारा के अधिनायकत्व में क्रान्ति को जारी रखने के लिए सतत प्रयत्नशील रहना कम्युनिज्म के लक्ष्य प्राप्ति का एकमात्र रास्ता है

समाजवादी समाज से कम्युनिस्ट समाज में संक्रमण के दौरान सर्वहारा को पूंजीपति वर्ग और उसकी विचारधारा को पूर्णतः पराजित करना होगा और सभी वर्गों व वर्ग विभेदों को खत्म कर देना होगा। इस प्रकार, चाहे उत्पादन सम्बन्धों का क्षेत्र हो अथवा अधिरचना का, यह रूपान्तरण एक गुणात्मक छलांग दर्शाता है और गहरी सामाजिक क्रान्तियों की एक श्रृंखला को समेटे होता है।

सर्वहारा के अधिनायकत्व में राज्य सत्ता, ''रोटी और कपड़े की भांति.... एक ऐसी चीज है जिसके बिना विजयी जनता एक क्षण के लिए भी जीवित नहीं रह सकती। यह एक बहुत ही बढ़िया चीज है, रक्षा करने वाला ताबीज है, विरासत में प्राप्त सम्पदा है जिसे किसी भी कीमत पर तब तक त्यागना नहीं चाहिए जब तक कि विदेशों में साम्राज्यवाद और अपने देश में वर्गों का सम्पूर्ण रूप से और समग्र रूप से खात्मा न हो जाए।''[9] मार्क्सवाद के बुनियादी सिद्धान्तों के आधार पर, माओ त्से-तुङ ने सर्वहारा अधिनायकत्व के ऐतिहासिक अनुभवों का समाहार किया और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व में सतत क्रान्ति का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के अधीन सतत क्रान्ति के सिद्धान्त पर अडिग रहने के लिए यह जरूरी होता है कि समाजवादी समाज का प्रेक्षण और विश्लेषण करने में हम मार्क्सवादी-लेनिनवादी-माओ त्से-तुङ विचारधारा के दृष्टिकोण, सिद्धान्त और पद्धति को ठीक ढंग से लागू करने की काबिलियत रखते हो और समाजवाद के समूचे ऐतिहासिक कालखण्ड में पार्टी की आम जनदिशा को लागू करने में मुस्तैदी से डटे रहें। राजनीतिक, आर्थिक, विचारधारात्मक, सांस्कृतिक और शिक्षा के क्षेत्र में बुर्जुआ वर्ग पर सर्वहारा के सर्वतोमुखी अधिनायकत्व को और अधिक दृढ़ता प्रदान करने में यही मुख्य कड़ी होती है। समाजवाद के निर्माण और कम्युनिज्म में संक्रमण को पूरा करने की यही मूलभूत गारण्टी है।

हम कम्युनिज्म की दिशा में आगे बढ़ रहे हैं या पूंजीवाद की ओर पीछे लौट रहे हैं इसके निर्धारण में यह प्रश्न बुनियादी महत्व का होता है कि बुर्जुआ वर्ग पर सर्वतोमुखी सर्वहारा अधिनायकत्व को लागू करने का काम दृढ़तापूर्वक हो रहा है अथवा नहीं, और यह कि सर्वहारा अधिनायकत्व के अन्तर्गत क्रान्ति को जारी रखने का काम दृढ़तापूर्वक किया जा रहा है अथवा नहीं। सोवियत संशोधनवादी गद्दार गुट यह दावा करते हुए मार्क्सवादी सिद्धान्त को तोड़ने-मरोड़ने की भरपूर कोशिश कर रहा है कि समाजवाद से कम्युनिज्म के संक्रमणकालीन दौर में क्रान्ति व वर्ग संघर्ष जरूरी नहीं हैं और न ही सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को लागू करने की जरूरत है। वे बेतुके ढंग से घोषित करते हैं कि ''समाजवादी समाज में शत्रु वर्गों का अस्तित्व ही नहीं होगा'' और कि इसलिए, ''समाजवाद से कम्युनिज्म की ओर जाने वाला मार्ग सामाजिक क्रान्ति और वर्ग-शत्रुता से रिक्त होता है।''

यद्यपित यह गद्दार गुट कम्युनिज्म के सपनों को पूरा करने का आह्वान करता है, लेकिन यह लोगों को धोखे में रखने, सर्वहारा के अधिनायकत्व को ध्वंस करने व पूंजीवाद को पुनर्स्थापित करने का महज एक धूम्रावरण है। वर्गों, वर्ग अन्तरविरोधों और वर्ग संघर्ष के सम्बन्ध में मूलभूत मार्क्सवादी सिद्धान्त को नकार कर यह सोवियत संशोधनवादी गद्दार गुट सर्वहारा अधिनायकत्व का अन्त कर देता है, सर्वहारा अधिनायकत्व के अन्तर्गत क्रान्ति को जारी रखना बन्द कर देता है, सर्वहारा पर हमला करने के लिए पूंजीपति वर्ग को गोलबन्द करता है, सर्वहारा अधिनायकत्व को बुर्जुआ अधिनायकत्व में बदल देता है और समाजवादी व्यवस्था को पूंजीवादी व्यवस्था में तब्दील कर देता है।

सर्वहारा के अधिनायकत्व में क्रान्ति को जारी रखने पर कायम रहकर ही सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को सुदृढ़ बनाया जा सकता है, पूंजीवाद की पुनर्स्थापना को रोका जा सकता है, समाजवाद का निर्माण किया जा सकता है और कम्युनिज्म को साकार करने की सभी आवश्यक परिस्थितियों को सृजित किया जा सकता है।

सर्वहारा अन्तरराष्ट्रीयतावाद के झण्डे को ऊंचा उठाओ और विश्व क्रान्ति का समर्थन करो

जिस युग में हम रह रहे हैं वह साम्राज्यवाद और सर्वहारा क्रान्ति का युग है। अध्यक्ष माओ ने इंगित किया है, ''साम्राज्यवाद के दैत्य के जन्म के समय से ही दुनिया के मामले आपस में इतने घनिष्ठ रूप से गुंथ गये हैं कि उन्हें अलग-अलग करना असम्भव हो गया है।''[10] कम्युनिज्म को हासिल करने के लिए हमें समग्र रूप से साम्राज्यवाद, पूंजीवाद और उन तमाम व्यवस्थाओं का अन्त कर देना होगा, जिसमें मनुष्य के हाथों मनुष्य का शोषण होता है, और तभी सम्पूर्ण मानवता को पूरी तौर से मुक्त किया जा सकेगा। अतः एक देश अथवा कई देशों में सर्वहारा द्वारा राजनीतिक सत्ता पर कब्जा जमा लेने और समाजवादी समाज की स्थापना का तात्पर्य यह नहीं होता कि क्रान्ति

सम्पन्न हो गई। सम्पूर्ण मानवता को मुक्त करके ही सर्वहारा वर्ग अन्ततः स्वयं को मुक्त कर सकेगा। ऐसा इसलिए क्योंकि पूंजी एक अन्तरराष्ट्रीय शक्ति है। जब तक साम्राज्यवाद, पूंजीवाद और शोषक व्यवस्थाओं का अस्तित्व बना रहता है, साम्राज्यवाद और सामाजिक साम्राज्यवाद समाजवादी देशों का विरोध करने के लिए निश्चय ही सशस्त्र हस्तक्षेप तथा शान्तिपूर्ण घुसपैठ व विखण्डन की प्रतिक्रियावादी पद्धतियों का इस्तेमाल करेंगे। इन परिस्थितियों में, समाजवादी देशों को साम्राज्यवाद व सामाजिक साम्राज्यवाद के आक्रमण और तोड़-फोड़ के खतरों से हमेशा ही जूझना पड़ेगा। चूंकि पूंजी एक अन्तरराष्ट्रीय शक्ति है इसलिए सर्वहारा का ध्येय भी अन्तरराष्ट्रीय ध्येय ही हो सकता है। अक्टूबर क्रान्ति के दौरान, जब रूसी सर्वहारा ने राजनीतिक सत्ता पर कब्जा जमा लिया था और समाजवादी क्रान्ति व समाजवादी निर्माण को आगे बढ़ाने की शुरुआत कर दी थी, लेनिन ने सटीक और स्पष्ट रूप से इंगित किया था, ''अन्तिम विजय केवल समूचे विश्व के पैमाने पर, और सभी देशों के मजदूरों के संयुक्त प्रयास से ही सम्भव है।''[11] त्रात्स्की के विरुद्ध अपने संघर्ष में स्तालिन ने लेनिनवाद की हिफाजत की और दृढ़ता से उसके साथ खड़े रहे। परन्तु ख्रुश्चेव-ब्रेझनेव गद्दार गुट ने बार-बार यह घोषित किया कि सोवियत संघ में, ''कम्युनिज्म ने सम्पूर्ण विजय ही नहीं बल्कि अन्तिम विजय भी हासिल कर ली है।'' यह लेनिनवाद से सीधे-सीधे गद्दारी है। घरेलू मोर्चे पर इस गद्दार गुट के तुच्छतापूर्ण दावों का उद्देश्य पूंजीपति और सर्वहारा वर्ग के तीखे संघर्षों को अन्धेरे में रखना था और देश के भीतर पूंजीवाद की पुनर्स्थापना के अपने षड्यंत्र पर पर्दा डालना था। अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर मार्क्सवाद के साथ इस गद्दारी का मंसूबा इस भ्रम को फैलाने के लिए बांधा गया था कि साम्राज्यवाद की हमलावर प्रकृति में बदलाव आ गया है और इसलिए भी कि आधिपत्य स्थापित करने के लिए दूसरी ''महाशक्ति'' के साथ अपने संघर्ष में यह गुट अपना घृणित चरित्र छिपाना चाहता था।

आधुनिक संशोधनवादियों द्वारा गद्दारी और तोड़-फोड़ करने के खिलाफ अध्यक्ष माओ ने लेनिनवाद की हिफाजत की और उसे समृद्ध बनाया। अध्यक्ष माओ ने स्पष्ट किया था, ''हमने एक बहुत बड़ी जीत हासिल की है। परन्तु पराजित वर्ग अपना संघर्ष जारी रखेगा। ऐसे लोग अभी भी चारों ओर हैं और इस वर्ग की मौजूदगी अभी भी बनी हुई है। इसलिए हम अन्तिम जीत की बात नहीं कर सकते। दशकों तक नहीं कर सकते। हमें अपनी निगरानी में ढील नहीं देनी चाहिए। लेनिनवादी नजरिए से, समाजवादी देश की अन्तिम विजय उस देश के सर्वहारा और उसकी जनता की व्यापक आबादी के प्रयासों की ही मांग नहीं करती बल्कि उसके लिए विश्व क्रान्ति और समूचे भूमण्डल पर मनुष्य के हाथों मनुष्य के शोषण की व्यवस्था का खात्मा भी जरूरी होता है और इसके बाद ही समूची मानवता मुक्त होगी। इसीलिए, अपने देश में क्रान्ति की अन्तिम जीत की बात बहुत हल्के-फुल्के ढंग से कहना एक गलती होगी। यह लेनिनवाद के खिलाफ जाता है और तथ्यों से मेल नहीं खाता।''[12] समाजवादी क्रान्ति में अन्तिम विजय प्राप्त करने और पूरे विश्व में कम्युनिज्म को हासिल करने के लिए विभिन्न देशों का सर्वहारा वर्ग सर्वहारा अन्तरराष्ट्रीयतावाद के झण्डे को ऊंचा उठाये हुए है और अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिज्म की आम मार्क्सवादी कार्यदिशा पर दृढ़तापूर्वक डटे रहकर एक दूसरे की मदद कर रहा है, साथ-साथ संघर्ष कर रहा है और हिम्मत के साथ आगे बढ़ रहा है।

साम्राज्यवाद और सर्वहारा क्रान्ति के इस युग में पूंजीवादी व्यवस्था के एक हिस्से का इतिहास के संग्रहालय में प्रवेश हो ही चुका है, शेष मरणासन्न भाग, पश्चिम की पहाड़ियों पर लटके हुए डूबते सूरज की भांति अन्तिम सांसें गिन रहा है और शीघ्र ही इसकी जगह भी संग्रहालय में होगी। यह कम्युनिस्ट सिद्धान्त और उसकी सामाजिक व्यवस्था ही है जो अपने प्रकाश से सम्पूर्ण विश्व को इस तरह आलोकित कर रही है मानो दसियों हजार बिजलियां एक साथ कड़क रही हों। यह इतना सामर्थ्यवान है जैसे आसमान छूता पहाड़ और इतना शक्तिशाली है जैसे प्रचण्ड वेगवाही समुद्र की तरंगें। कम्युनिज्म अपने यौवन और ऊर्जस्विता को हमेशा बरकरार रखेगा। मानव समाज के विकास के वस्तुगत नियमों को अपना आधार बनाकर मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र समाज के विभिन्न रूपों के उत्पादन सम्बन्धों की गति और विकास का विश्लेषण करता है और इस वैज्ञानिक नतीजे पर पहुंचता है कि पूंजीवादी व्यवस्था का विनाश अवश्यम्भावी है और समाजवादी व कम्युनिस्ट व्यवस्थाओं का समूची दुनिया में कायम होना लाजिमी है। मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र ऐतिहासिक विकास के आम रुझान को उद्घाटित करता है और यह क्रान्ति सम्पन्न करने के लिए सर्वहारा के हाथों में एक शक्तिशाली हथियार है।

इतिहास का विकास संघर्ष के जरिए होता है। विश्व अस्थिरता के बीच प्रगति की ओर अग्रसर होता है। नये विश्व का उषाकाल, जिसमें साम्राज्यवाद, पूंजीवाद और किसी तरह की शोषक व्यवस्था नहीं होगी, दिखाई देने लगा है। अध्यक्ष माओ हमें बताते हैं, ''भविष्य उज्जवल है, परन्तु रास्ते टेढ़े-मेढ़े हैं।''[13] आइये हम मार्क्सवाद-लेनिनवाद और माओ त्से-तुङ विचारधारा के विजयी झण्डे को ऊंचा उठायें, अन्तरराष्ट्रीय सर्वहारा और विश्व की उत्पीड़ित जनता व राष्ट्रों के साथ एकजुट हों, दृढ़ संकल्प लें, कुर्बानियों से न डरें और जीत हासिल करने के लिए सभी बाधाओं को पार कर जाएं।

अध्ययन के लिए प्रमुख सन्दर्भ

मार्क्स-एंगेल्स, **कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र**
मार्क्स, **गोथा कार्यक्रम की आलोचना**
लेनिन, **राज्य और क्रान्ति**, अध्याय 5
माओ, ''नव जनवाद के बारे में'',

समीक्षात्मक प्रश्न

1. कम्युनिस्ट समाज और समाजवादी समाज के बीच क्या सम्बन्ध है और इनमें क्या अन्तर है? नकली कम्युनिज्म का सार क्या है?

2. कम्युनिज्म की प्राप्ति के लिए किन स्थितियों का निर्माण किया जाना आवश्यक है? यह क्यों कहते हैं कि कम्युनिज्म की प्राप्ति एक गहरी सामाजिक क्रान्ति है?

3. एक कम्युनिस्ट योद्धा एक उदात्त कम्युनिस्ट आदर्श को अपनाकर उसके लिए जीवनभर संघर्ष कैसे कर सकता है?

टिप्पणियां

1. ''चीनी क्रान्ति और चीनी कम्युनिस्ट पार्टी'', **माओ त्से-तुङ की संकलित रचनाएं**, भाग 2, अंग्रेजी संस्करण, पृ. 331.

2. ''हमारी क्रान्ति और सर्वहारा वर्ग का कार्यभार'', **लेनिन की**

प्रकाशन सिर्फ व्यवसाय नहीं, देश के सांस्कृतिक और शैक्षिक विकास में भागीदारी भी है

शिक्षा की पुस्तकें

बारबियाना स्कूल के बच्चे
अध्यापक के नाम पत्र 150.00

कृष्ण कुमार
शैक्षिक ज्ञान और वर्चस्व 125.00

रवींद्रनाथ ठाकुर
रवींद्रनाथ का शिक्षादर्शन 150.00

जोनाथन कोज़ोल
क्रांति की बारह खड़ी 200.00

पाओलो फ्रेरे
प्रौढ़ साक्षरता 125.00

मार्टिन कारनॉय
सांस्कृतिक साम्राज्यवाद और शिक्षा 350.00

जॉन डिवी
शिक्षा और लोकतंत्र 300.00

नरिंदर सिंह
संस्कृति, शिक्षा और लोकतंत्र 125.00

गैरेथ बी. मैथ्यूज
बच्चों से बातचीत 125.00

जार्ज डैनीसन
बच्चों का जीवन 225.00

मरिया मांटेसरी
ग्रहणशील मन 225.00

बीट्रीस एवॉलास
गरीब बच्चों की शिक्षा 200.00

रामशरण जोशी
आदिवासी समाज और शिक्षा 200.00

मूनिस रज़ा
शिक्षा और विकास के सामाजिक आयाम 200.00

पाओलो फ्रेरे
उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र 150.00

सिल्विया एश्टन वॉरनर
अध्यापक 150.00

न्गुगी वॉ थ्योंगो
औपनिवेशिक मानसिकता से मुक्ति 185.00

सुसांत गुणतिलक
पंगु मस्तिष्क 450.00

अंतोन मकारेंको
शिक्षा की महागाथा (तीन का सेट) 985.00

साधना सक्सेना
शिक्षा और जन आंदोलन 275.00

अनिल सद्गोपाल
शिक्षा में बदलाव का सवाल 425.00

परमेश आचार्य
देशज शिक्षा, औपनिवेशिक विरासत और जातीय विकल्प 275.00

कृष्ण कुमार
शिक्षा और ज्ञान 150.00

जेम्स ब्रिटन
भाषा और अधिगम (प्रकाश्य)

विस्तृत जानकारी के लिए लिखें
ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, जी-82, विजय चौक, लक्ष्मी नगर, दिल्ली 110092

सम्पूर्ण रचनाएं, खण्ड 24, अंग्रेजी संस्करण, पृ. 84-85.

3. मार्क्स, **गोथा कार्यक्रम की आलोचना,** अंग्रेजी संस्करण, पृ. 17.

4. ''व्यवहार के बारे में'', **माओ त्से-तुङ की संकलित रचनाएं**, भाग 1, अंग्रेजी संस्करण, पृ. 308

5. ''जनता के जनवादी अधिनायकत्व के बारे में'', **माओ त्से-तुङ की संकलित रचनाएं,** भाग 4, अंग्रेजी संस्करण, पृ. 411

6. ''नवजनवाद के बारे में'', **माओ त्से-तुङ की संकलित रचनाएं,** भाग 2, अंग्रेजी संस्करण, पृ. 260

7. ''कार्ल मार्क्स की शिक्षा की ऐतिहासिक नियति'', **लेनिन की सम्पूर्ण रचनाएं**, खण्ड 18, अंग्रेजी संस्करण, पृ. 584.

8. ''लेनिनवाद या सामाजिक साम्राज्यवाद'', लेख से उद्धृत, **पीकिङ रिव्यू**, 17 (24 अप्रैल) 1970, पृ. 7.

9. ''श्वेतपत्र पर बहस करना क्यों आवश्यक है'' **माओ त्से-तुङ की संकलित रचनाएं,** भाग 4, अंग्रेजी संस्करण, पृ. 444

10. ''जापानी साम्राज्यवाद विरोधी कार्यनीति के बारे में'', **माओ त्से-तुङ की संकलित रचनाएं,** भाग 1, अंग्रेजी संस्करण, पृ. 170

11. अखिल रूसी केन्द्रीय कार्यकारी समिति और मास्को सोवियत की संयुक्त बैठक में विदेश नीति के बारे में प्रस्तुत रिपोर्ट, 14 मई, 1918, **लेनिन की सम्पूर्ण रचनाएं**, खण्ड 27, अंग्रेजी संस्करण, पृ. 372-73.

12. माओ, चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की नवीं कांग्रेस की रिपोर्ट में उद्धृत।

13. माओ, चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की दसवीं कांग्रेस के दस्तावेजों में उद्धृत।

(चीन में महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान तैयार की गयी पुस्तक **फण्डामेण्टल्स ऑफ पोलिटिकल इकॉनमी** (***दि शंघाई टेक्स्टबुक*** के नाम से प्रसिद्ध) के अंग्रेजी संस्करण से हिन्दी अनुवाद : **सत्यम वर्मा**)

'राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त' पुस्तक दो खण्डों में **राहुल फाउण्डेशन,** 69, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, लखनऊ-226006 से प्रकाशित हुई है।

फलस्तीन में नया इन्तिफादा

(पृष्ठ 54 का शेष)

बार फिर संयुक्त राष्ट्र संघ को ठेंगा दिखाते हुए पिछले 16 फरवरी को इराक के उड़ान वर्जित क्षेत्रों को भेदकर अमेरिकी युद्धक विमानों ने इराकी ठिकानों पर हमले किये, जिसमें एक इराकी सैनिक की जान गयी और दर्जन भर घायल हुए। इस बार फिर उसी मक्कार बहानेबाजी के हवाले से कि इराक जनसंहार के हथियारों को बना रहा है। हमले की इस कार्रवाई ने उसका अलगाव और अधिक बढ़ा दिया है। इस बार तीसरी दुनिया के देशों के साथ ही रूस और चीन ने भी अमेरिकी हमले का विरोध किया। ब्रिटेन तो अपनी मजबूरियों में अमेरिकी हमले का सहयोगी ही था लेकिन फ्रांस, जर्मनी जैसे देशों ने फिलहाल समझदारी भरी चुप्पी साधी हुई है।

यह समूचा परिदृश्य एक बार फिर इस सच्चाई की गवाही दे रहा है कि फलस्तीन का सवाल आज भी पश्चिम एशिया में ''शान्ति'' का केन्द्रीय सवाल बना हुआ है। यह परिदृश्य कई मायनों में फलस्तीनी राष्ट्र की मुकम्मल आजादी के लिए अनुकूल परिस्थितियां तैयार कर रहा है। ये परिस्थितियां फलस्तीनी राष्ट्र को कौन सी शक्ल देंगी, इसके बारे में ठीक-ठीक भविष्यवाणी करना तो सम्भव नहीं, लेकिन इतना जरूर कहा जा सकता है कि इसे शक्ल देने में नये इन्तिफादा की सबसे अहम भूमिका होगी।

(18 फरवरी 2001)

• अरविन्द सिंह

'सोवियत संघ में समाजवाद की आर्थिक समस्याएं' के बारे में

(पृष्ठ 28 का शेष)

के अनुसार यह तिथि 1953 है। नवम्बर 1959 में चेङचाउ में कोई सम्मेलन नहीं हुआ था लेकिन नवम्बर 1958 में हुआ था। यह दस्तावेज निश्चित रूप से उसी समय का है।

2. 1953 में स्थापित वेतन-प्रणाली में अल्पकालिक व्यक्तिगत भौतिक प्रोत्साहनों पर जोर दिया गया था। इसने अंकों पर आधारित 8 श्रेणियों वाली वेतन प्रणाली स्थापित की थी जिसमें 139 से लेकर 390 वेतन अंक प्रतिमाह होते थे। अलग-अलग क्षेत्रों में एक जैसे काम के लिए बराबर कार्य अंक मिलते थे लेकिन कार्य अंकों का मूल्य अलग-अलग क्षेत्रों में आजीविका की लागत के अनुसार बदल जाता था। 1956 से कार्य अंक प्रणाली को हटाकर वेतन प्रणाली स्थापित की गयी लेकिन 8 श्रेणियों वाला ढांचा बना रहा।

3. प्रायोगिक खेतों में जल्दी रोपाई, निकट रोपाई, गहरी जुताई जैसी नई और उन्नत तकनीके विकसित करने का प्रयास किया जाता था। अगर यह पैदावार बढ़ाने में सफल होती थी तो उन तकनीकों को पूरे चीन में लोकप्रिय बनाया जाता था। उत्पादन बढ़ाकर और इस तरह कुल वेतन कोष में वृद्धि करके प्रायोगिक खेतों की योजना श्रेणीबद्ध वेतन प्रणाली के विचारधारात्मक आधार को कमजोर कर सकती थी, यह दिखाकर कि विशेषज्ञों को किसानों से सीखने की जरूरत है।

''हमारे कष्ट, हमारी आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक समस्याएं इतनी अधिक और जटिल हैं कि हम तब तक उनका हल सोच नहीं सकते, जब तक कि हम साफ-साफ और सतर्कतापूर्वक इन पर सोचने का प्रयत्न न करें।'' - राहुल सांकृत्यायन

अनिल कुमार कटियार
सहप्रशिक्षक (मृदा विज्ञान)
कृषि विज्ञान केन्द्र
उझानी (बारा पत्थर) बदायूं-243609 (उ.प्र.)

'दायित्वबोध' को शुभकामनाओं सहित

धर्मपालसिंह शर्मा
पूजा क्लाथ इम्पोरियम
401, तुराब नगर , गाजियाबाद

nkf ; Rockध

हिन्दी में अपने ढंग की अकेली पत्रिका

हर अंक में संग्रहणीय सामग्री

पिछले अंकों में प्रकाशित कुछ महत्वपूर्ण सामग्री

नवम्बर'95–फरवरी'96

• साम्राज्यवाद आज भी कागजी बाघ है (भूमंडलीकृत पूंजीवाद के चरित्र और उसके अन्तर्निहित संकट का विस्तृत विश्लेषण) • सर्वहारा अधिनायकत्व के युग में अर्थनीति और राजनीति : *लेनिन* • जनवादी केन्द्रीयता का सवाल : *माओ त्से-तुङ* • शिखर पर रुदन : आत्मविश्लेषण और आत्म आलोचना से आत्म-भर्त्सना तक पश्चिम की विचारयात्रा • आइजेंस्टाइन और *'पूंजी'* पर फिल्म बनाने की योजना • माओ और सुरजीत पातर की कविताएं

मार्च–अगस्त 1996

• *रेमण्ड लोट्टा का महत्वपूर्ण लेख :* माओवादी नियोजन का सिद्धान्त और व्यवहार : एक स्वप्नदर्शी और व्यावहारिक समाजवाद के पक्ष में • भाषा, इतिहास और वर्ग संघर्ष • आज के दौर में नारीवादी लेखन : कुछ अहम सवाल, कुछ बुनियादी समस्याएं • *हावर्ड फास्ट के विश्वविख्यात उपन्यास* 'दि अमेरिकन' के अंश

सितम्बर–अक्टूबर 1996

• मार्क्स और पर्यावरण • क्रान्ति का विज्ञान • विज्ञान, कला और अधिरचना—*एमिल बर्न्स* • ताचाई की कहानी • 'जनवाद' का विभ्रम और सर्वहारा अधिनायकत्व

नवम्बर'96–फरवरी'97

समाजवाद के सिद्धान्त और प्रयोग, समस्याओं और चुनौतियों पर *विशेष सामग्री*

• माओ के अमर अवदान और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की युगान्तरकारी शिक्षाएं • स्तालिन : एक मूल्यांकन • स्तालिन के समय में सोवियत समाजवाद • रूसी क्रान्ति का मूलभूत अभिप्राय—*रोजा लक्ज़ेमबर्ग* • सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति क्या, क्यों और किस प्रकार • सोलहसूत्रीय सर्कुलर • सांस्कृतिक क्रान्ति के सैद्धान्तिक आधार के बारे में—*जार्ज थामसन* • कला में विचारधारात्मक अन्तर्वस्तु और यथार्थवाद पर मार्क्स-एंगेल्स • पाब्लो नेरूदा और माओ त्से-तुङ की कविताएं

मार्च–जून 1997

• मजदूर आन्दोलन पर कुछ सवाल • पेरिस कम्यून की महान शिक्षाएं • सर्वहारा अधिनायकत्व की विजय अमर रहे • सूचना क्रान्ति का सच

जुलाई–अक्टूबर 1997

• एक ऐतिहासिक विश्वासघात और उसके बाद की अंधकारमय अर्द्धशताब्दी • *रेमण्ड लोट्टा का लेख :* माओवादी अर्थशास्त्र और समाजवाद का भविष्य • *चाङ चुन-चियाओ का लेख:* बुर्जुआ वर्ग पर सर्वतोमुखी अधिनायकत्व लागू करने के बारे में • *सेर्गेई आइजेंस्ताइन का लेख:* कला का मनोविज्ञान • मार्क्सवाद के विरोध में ''नव'' दक्षिणपंथी लोकरंजकतावाद के नये-नये मिथक

नवम्बर '97–फरवरी '98

बेर्टोल्ट ब्रेष्ट की अट्ठाइस कविताएं व ब्रेष्ट पर मोहन थपलियाल का लेख • गैर सरकारी स्वयंसेवी संगठनों और दाता एजेंसियों का असली चरित्र • मदर टेरेसा और उनके उत्तराधिकारियों का ''मिशन'' : सेवा का सच • महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दस्तावेज • माओ त्से-तुङ की कविताएं

मार्च–जून 1998

चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की नवीं कांगेस में प्रस्तुत रिपोर्ट • 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' की 150वीं वर्षगांठ पर

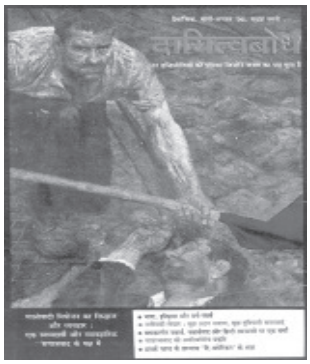

विशेष लेख • ग्राम्शी का लेख 'बुद्धिजीवी' • पूंजीवाद की पूंजीवादी समालोचना के निहितार्थ • मदर टेरेसा : मिथक और यथार्थ • शशि प्रकाश की पच्चीस कविताएं

जुलाई–दिसम्बर 1998

ब्रेष्ट, लोर्का और रॉबसन की जन्मशती के अवसर पर विशेष सामग्री :

• बेर्टोल्ट ब्रेष्ट और उनका थियेटर • लोर्का की कविताएं • लोर्का पर नेरूदा की कविता • रॉबसन पर नाजिम हिकमत की कविता • पीकस्किल में पॉल रॉबसन • उत्तर- औपनिवेशिक सिद्धान्त और 'उत्तर' -अवस्था : *एजाज अहमद* • गैर सरकारी संगठनों का असली मिशन • भूण्डलीकरण और सामाजिक विज्ञान • माओकालीन चीन में मार्क्सवाद : *जार्ज थामसन* • हेनरिख हाइने, फर्डिनांड फ्रेलिग्राथ, जार्ज वेयेर्थ और पाब्लो नेरूदा की कविताएं

जुलाई–सितम्बर 1999

• स्वयंसेवी संगठनों और दाता-एजेंसियों का नेटवर्क : एक खतरनाक साम्राज्यवादी कुचक्र • तीसरी दुनिया में कृषि-अनुसंधान का ढांचा • भारतीय क्रान्ति व कृषि प्रश्न • कम्युनिस्ट लीग (1847-1852) का इतिहास • बेर्टोल्ट ब्रेष्ट की सर्वाधिक महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक कृति 'थियेटर का एक संक्षिप्त तर्कशास्त्र'

अक्टूबर–दिसम्बर 1999

• जनता के सांस्कृतिक आन्दोलन की चुनौतियां • ''उदारीकरण'' के आठ वर्ष • *चीनी क्रान्ति की अर्द्धशती पर* 'बीसवीं सदी की दूसरी महानतम क्रान्ति और उसकी प्रासंगिकता' • बुर्जुआ से सर्वहारा क्रान्ति की ओर : *जार्ज थामसन* • मूलाधार और अधिरचनाओं के सम्बन्ध के बारे में : *वी.एन. वोलोशिनोव* • भारत, बंगलादेश, पाकिस्तान की विद्रोही कविता • काजी नजरुल इस्लाम • *इस्तवान मेस्जारोस* की चर्चित कृति 'दि पॉवर ऑफ कैपिटल' की समीक्षा

जनवरी–मार्च 2000

• कम्युनिस्ट घोषणापत्र की स्मृति में : *अंतोनियो लाब्रियोला* और *रेमंड लोट्टा* के महत्वपूर्ण लेख • जार्ज लुकाच के विरोध में : ब्रेष्ट • कहां हैं हमारी भाषा के वे कारीगर हाथ : *आलोक श्रीवास्तव* • माओवादी चीन में स्त्रियां • महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दस्तावेज और लेख • नजरुल की कविता 'विद्रोही' • नये वर्ष में हड़तालों की लहर और इसकी विफलता के सबक

जुलाई–सितम्बर 2000

आपातकाल के कुछ अनुत्तरित यक्ष-प्रश्न और हमारा समय *हांस आइसलर* का लेख एक नई संगीत संस्कृति के निर्माता समाजवादी काल में वर्ग संघर्ष के नियम • स्त्री मुक्ति का राजनीतिक अर्थशास्त्र • महत्वपूर्ण होती है आम जनता : एक गणितज्ञ की आस्था

पत्रिका के पुराने अंकों के लिए लिखें :

प्रसार व्यवस्थापक
दायित्वबोध
81, समाचार अपार्टमेंट
मयूर विहार फेज –1
दिल्ली–110091

प्रत्येक अंक का मूल्य : पन्द्रह रुपए

बेहतर ज़िन्दगी का रास्ता बेहतर किताबों से होकर जाता है!

परिकल्पना प्रकाशन की पुस्तकें

मां
मक्सिम गोर्की का अमर उपन्यास
पृष्ठ 448 • 70 रुपये

शहीदेआजम की जेल नोटबुक
एक महान विचारयात्रा का दुर्लभ साक्ष्य • भारतीय इतिहास का एक दुर्लभ दस्तावेज • भगतसिंह की शहादत के 68 वर्ष बाद हिन्दी में पहली बार प्रकाशित ❑ पृष्ठ 200 • 50 रुपये

विचारों की सान पर
भगतसिंह और उनके साथियों के चुने हुए दस्तावेज़, पत्र और वक्तव्य ❑ पृष्ठ 104 • 20 रुपये

माओ त्से-तुङ की कविताएं
राजनीतिक पृष्ठभूमि सहित विस्तृत टिप्पणियों के साथ
अनुवाद एवं सम्पादन : *सत्यव्रत* ❑ पृष्ठ 96 • 20 रुपये

चिरस्मरणीय
कय्यूर के किसान आन्दोलन के शहीदों पर लिखा **निरंजन** का प्रसिद्ध कन्नड़ उपन्यास, अनुवाद : *रामकृष्ण पाण्डेय* ❑ पृष्ठ 168 • 35 रुपये

बेर्टोल्ट ब्रेष्ट : इकहत्तर कविताएं और तीस छोटी कहानियां
मूल जर्मन से अनुवाद : *मोहन थपलियाल* ❑ पृष्ठ 148 • 60 रुपये

लहू है कि तब भी गाता है
(**पाश** के सभी संग्रहों से चयनित प्रतिनिधि कविताओं का संकलन)
संपादक : *चमनलाल एवं कात्यायनी* ❑ पृष्ठ 176 • 75 रुपये

चुनी हुई कहानियां : मक्सिम गोर्की (पहला खण्ड)
पृष्ठ 168 • 35 रुपये

पांच कहानियां : पुश्किन ❑ पृष्ठ 96 • 20 रुपये

दो अमर कहानियां : लू शुन ❑ पृष्ठ 96 • 20 रुपये

श्रेष्ठ कहानियां : प्रेमचंद ❑ पृष्ठ 96 • 20 रुपये

तीन कहानियां : गोगोल ❑ पृष्ठ 144 • 30 रुपये

दुर्ग द्वार पर दस्तक
कात्यायनी ❑ पृष्ठ 152 • 50 रुपये (द्वितीय संशोधित संस्करण)

माओवादी अर्थशास्त्र और समाजवाद का भविष्य
रेमण्ड लोट्टा के दो महत्वपूर्ण लम्बे लेखों का संकलन
पृष्ठ 104 • 25 रुपये

समर तो शेष है...
इप्टा के दौर से आज तक के प्रतिनिधि क्रान्तिकारी समूहगीतों का अनन्य संकलन ❑ पृष्ठ 144 • 35 रु. रुपये

क्रान्ति का विज्ञान
लेनी वुल्फ ❑ पृष्ठ 36 • 10 रुपये

अब इंसाफ होने वाला है
उर्दू की प्रगतिशील कहानियों का प्रतिनिधि संकलन
संपादक : *शकील सिद्दीकी* ❑ पृष्ठ 248 • 75 रुपये

मध्यवर्ग का शोकगीत
हान्स माग्नुस एंत्सेंसबर्गर की कविताएं
सम्पादन एवं अनुवाद : *सुरेश सलिल* ❑ पृष्ठ 72 • 25 रुपये

राहुल फाउण्डेशन के प्रकाशन

माओ त्से-तुङ की रचनाओं के उद्धरण 35 रुपये

Quotations from Mao Tse-Tung 40 रुपये

पार्टी साहित्य और पार्टी संगठन —*लेनिन* 15 रुपये

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद —*वी. अदोरात्स्की* 15 रुपये

राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त (दो खण्डों में)
(दि शंघाई टेक्स्टबुक आफ पोलिटिकल इकॉनमी) प्रत्येक खण्ड : 60 रुपये

कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र
—*कार्ल मार्क्स, फ्रेडरिक एंगेल्स* 10 रुपये

बुर्जुआ वर्ग पर सर्वतोमुखी अधिनायकत्व लागू करने के बारे में —*चाङ चुन-चियाओ* 3 रुपये

मई दिवस का इतिहास —*अलेक्जेण्डर ट्रैक्टनबर्ग* 3 रुपये

अक्टूबर क्रान्ति और लेनिन —*एल्बर्ट रीस विलियम्स* 75 रुपये

दायित्वबोध पुस्तिका श्रृंखला

अनश्वर हैं सर्वहारा संघर्षों की अग्निशिखाएं
—*दीपायन बोस* 10 रुपये

समाजवाद की समस्याएं, पूंजीवादी पुनर्स्थापना और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति —*शशिप्रकाश* 12 रुपये

क्यों माओवाद —*शशिप्रकाश* 10 रुपये

बिगुल पुस्तिका श्रृंखला

कम्युनिस्ट पार्टी का संगठन और उसका ढांचा
—*वी.आई. लेनिन* 5 रुपये

मकड़ा और मक्खी —*विल्हेल्म लीब्कनेख्त* 2 रुपये

ट्रेडयूनियन काम के जनवादी तरीके
—*सर्जी रोस्तोवस्की* 2 रुपये

राहुल फाउण्डेशन एवं परिकल्पना प्रकाशन की पुस्तकों के मुख्य वितरक :

जनचेतना
डी-68, निरालानगर,
लखनऊ-226 020 ✆ (0522) 788932
(व्यक्तिगत प्रतियों के लिए 12 रुपए रजिस्ट्री शुल्क जोड़कर ड्राफ्ट या एम.ओ. भेजें)